आचार्य भिक्षु

आचार्य महाप्रज्ञकृत *भिक्षु अष्टकम्* के आलोक में

परिकल्पना

अनामदास

लेखक

मोहन गुप्त



प्रज्ञा प्रकाशन

हैदराबाद • दिल्ली

प्रज्ञा प्रकाशन

प्रधान कार्यालय : 17 अमृता मॉल प्रथम तल
6-3-1110, बेगमपेट, हैदराबाद 500 016
फोन : 91-40-55516611, फैक्स : 91-40-23416640
ई-मेल : prajnaprakashan@rediffmail.com

शाखा कार्यालय :
196 सी पॉकेट 4, मयूर विहार फेज़ 1, दिल्ली 110 091

पहला पेपरबैक संस्करण : 2005

वितरक :
जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता - 700 001
फोन : 91-33-22357956 फैक्स : 91-33-22343666
ई-मेल : jstmahasabha@hotmail.com

कलापक्ष : सचिन जलतारे, हैदराबाद
अभिकल्पन : मंजु कुंडलिया
सहयोग : अनवर हुसैन

मुद्रक : साइरस ग्राफिक्स प्रा. लि.
बी=261, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फेज़ -1, नई दिल्ली

For 15 Days

"TAPASYA"

of

Mrs. Binita Giria

(W/o-Sri Mukesh Giria)

From: **Bhagabatidevi Giria**

on 18th, Sept. 2007

तेरा
तुझको
अर्पण

आशीर्वचन

आचार्य भिक्षु तत्ववेत्ता थे, ज्ञानी थे। उनकी सरस्वती ने जन-जन को वह ज्ञान दिया, जिससे अध्यात्म प्रकाश व्यापक बना।

आचार्य भिक्षु की तपस्या में उपशम की गंगा प्रवाहित होती थी। उन्होंने द्वेष के वातावरण में भी मैत्री के प्रयोग किये।

प्रस्तुत पुस्तक में आचार्य भिक्षु की जीवन-गाथा इन्हीं संदर्भों में अंकित की गई है। इस सरल भाषा को छोटे किशोर भी सरलता से समझ सकेंगे।

बाल-साहित्य की दिशा में यह एक सार्थक प्रयास है, जो बच्चों को नयी दिशा दे सकेगा।

आचार्य महाप्रज्ञ

चाड़वास , राजस्थान
फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी, 2061
8 मार्च, 2005

संपादकीय

गुरुदेव तुलसी के समय से ही संस्कार-निर्माण हेतु बाल-साहित्य-निर्माण के संदर्भ में चर्चा होती रही है। उनकी प्रेरणा एवं दिशानिर्देश था कि जैन साहित्य को बच्चों, किशोरों तथा आम पाठकों एवं जैनेतर लोगों के लिए भी पठनीय बनाया जाए।

आचार्य महाप्रज्ञ के आशीर्वचन से साहित्य-निर्माण की इस योजना का क्रियान्वयन संभव हुआ है। लक्ष्य है कि गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए चुनिंदा विषयों पर आकर्षक, रोचक व प्रेरणाप्रद पुस्तकें तैयार की जाएँ और उन्हें देश-विदेश के लक्षित पाठकों तक पहुँचाया जाए।

योजना की पहली पुस्तक है *आचार्य भिक्षु : आचार्य महाप्रज्ञकृत भिक्षु अष्टकम् के आलोक में।* जैसाकि नाम से स्पष्ट है, इसमें केवल आठ श्लोक हैं, जो मूलतः संस्कृत में लिखे गए हैं। इन श्लोकों के संगान से मन में शांति की अनुभूति होती है। किंतु जो पाठक संस्कृत नहीं जानते, वे इन श्लोकों के अर्थ नहीं समझ पाते और न ही उनमें छुपे अर्थ-संदर्भों से परिचित हो पाते हैं। ऐसी स्थिति में इन श्लोकों का पाठ करके भी वे पाठ के वास्तविक आनंद से वंचित रह जाते हैं। प्रस्तुत कृति के लक्षित पाठक वही हैं। वे इन श्लोकों के अर्थ को हृदयंगम कर सकें, इसलिए मूल श्लोकों के शब्दार्थ, अनुवाद और अर्थ-संदर्भ के साथ-साथ आचार्य भिक्षु के जीवन प्रसंगों को सरस व रोचक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इस प्रकाशन-योजना का प्रारंभ हिंदी से किया गया है। शीघ्र ही अन्य भाषाओं में भी पुस्तकें प्रस्तुत की जाएंगी ताकि अहिंदीभाषी लोग भी इनका रसास्वादन कर सकें।

आचार्य भिक्षु के निर्वाण की द्विशताब्दी पर अपनी प्रकाशन-श्रृंखला की प्रथम कड़ी प्रस्तुत करते हुए मन में आत्मतोष हो रहा है।

आचार्य भिक्षु के जीवन-मूल्यों का आधार था – सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र। आगमों के मर्मज्ञ अध्येता, सत्यनिष्ठ व तपोनिष्ठ और साथ-ही-साथ एक कुशल व्यवस्थापक व अनुशासक आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ धर्मसंघ का ऐसा सुविचारित ढांचा खड़ा किया, जो आज भी अपने-आपमें एक मिसाल है। उनकी जीवन-कथा के एक-एक प्रसंग में स्वानुभूत सत्य का आलोक है, इसीलिए वह प्रेरक और उद्बोधक है।

संयम धर्म है। आचार्य भिक्षु ने इस बात को अपने जीवन में रूपायित किया था। वे मानते थे कि व्यक्ति का समष्टिगत रूप ही समाज है, इसलिए व्यक्ति अनुशासित होगा, तो समाज भी अनुशासित हो जाएगा। अनुशासित समाज वर्ण, जाति, संप्रदाय तथा भौगोलिक सीमाओं के संकीर्ण दायरों में कैद नहीं होता। वह संपूर्ण मानव जाति को अपने में समेट लेता है और संपूर्ण मानव जाति में अपना विलय कर देता है। इस दृष्टि से मानव मात्र का धर्म एक है। वह शाश्वत है।

आचार्य भिक्षु की दृढ़ता, अनुशासनप्रियता, सहिष्णुता तथा सत्य के प्रति अडिग आस्था की एक रश्मि भी यदि पाठक को छू सके, तो यह श्रम सार्थक होगा।

अनामदास

भूमिका

धर्म का मूल मन एवं आत्मा की पवित्रता तथा मानव-कल्याण है। स्वयं नैतिकतापूर्ण आचरण करने और साधुजनों अर्थात् सीधे-सरल व परोपकार में संलग्न लोगों की रक्षा तथा अन्याय-अनाचार का उन्मूलन करने को धर्म कहा गया है। इसलिए समाज का शक्तिसंपन्न वर्ग जब अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए मानवता-विरोधी तथा अन्यायपूर्ण आचरण करने लगता है, तो धर्म का लोप हो जाता है। मानवजाति का इतिहास गवाह है कि समाज में जब-जब ऐसी प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं, किसी-न-किसी महापुरुष ने जन्म लेकर उनके विरुद्ध संघर्ष किया और संसार को एक नई दृष्टि दी। समय-समय पर जैन धर्म, वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म आदि का अस्तित्व में आना इसी प्रक्रिया का परिणाम है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ये धर्म समय की आवश्यकता से विकसित हुए और इनके प्रणेता सच्चे अर्थों में अवतारी पुरुष थे। उन्होंने धर्म के नाम पर जनता का शोषण करनेवाले अंधविश्वासों पर प्रहार किया और समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना करने के लिए परंपरा से चले आ रहे आदर्शों, विचारों एवं सिद्धांतों को अपने समय की आवश्यकताओं के अनुरूप संस्कारित करके जनता के बीच प्रचारित किया। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि इतना सब करके भी इनमें से शायद ही किसी ने नया धर्म स्थापित करने की बात सोची हो। यह काम तो बाद में उनके अनुयायियों ने किया। किंतु दुर्भाग्य से हर धर्म समय के साथ कुछ विकृतियों का शिकार होने लगा और धीरे-धीरे वह ऐसे बिंदु पर पहुँच गया, जहाँ उसमें क्रांति की आवश्यकता अनुभव की गई। ईसाई धर्म में क्रांति हुई, तो कैथोलिक चर्च की कोख से प्रोटेस्टेंट संप्रदाय का जन्म हुआ, इस्लाम शिया और सुन्नी में विभाजित हुआ,

बौद्ध धर्म महायान और हीनयान में विभक्त हुआ और वैदिक या सनानत धर्म तो (जिसे हिंदू धर्म के नाम से जाना जाता है) इतनी बार क्रांति के दौर से गुजरा और इतने संप्रदायों में विभक्त हुआ कि आसानी से उनकी गणना भी नहीं की जा सकती।

जहाँ तक जैन धर्म का सवाल है, यह भी दो भागों में विभक्त हो गया -- दिगंबरपंथ एवं श्वेतांबरपंथ। समय के साथ फिर दिगंबरपंथियों की तो कई शाखाएँ बनीं ही, श्वेतांबरपंथियों के भी अनेक संप्रदाय हुए, जिनमें से एक है तेरापंथ। यह पंथ अब ढाई सौ वर्ष की यात्रा पूरी करनेवाला है। इसके संस्थापक आचार्य भिक्षु न केवल आगमों के मर्मज्ञ अध्येता व तपोनिष्ठ आचार्य थे बल्कि एक महान संगठनकर्ता एवं कुशल विधायक-नियामक भी थे। उन्होंने तेरापंथ संघ का ऐसा सुविचारित ढाँचा खड़ा किया, जो आज तक यथावत चल रहा है। कहना न होगा कि जैन धर्मसंघों के इतिहास में यह एक उदाहरण बन गया है।

आचार्य भिक्षु के जीवन, दर्शन तथा व्यक्तित्व को प्रकाशित करने के लिए सर्वप्रथम एक पुस्तक तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जयाचार्यजी ने लिखी थी, जिसका शीर्षक था *भिक्खु जश रसायण* । उसके बाद मुनि हेमराजजी तथा मुनि वेणीरामजी ने *भिक्खु चरित्र* लिखे, किंतु ये तीनों ग्रंथ राजस्थानी में रचित होने के कारण सर्वजन-सुलभ नहीं हैं। हिंदी में पहली बार आचार्य भिक्षु का वृहत् जीवन-चरित्र श्रीचंदजी रामपुरिया ने लिखा था, जो 1989 में प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ रामपुरियाजी के गहन अध्ययन एवं शोध का परिणाम है और उन पाठकों के लिए परम उपयोगी है, जो शोध एवं अनुसंधान में रुचि रखते हैं। निकायप्रमुख मुनि बुद्धमलजी का ग्रंथ *आचार्य भिक्षु* भी हिंदी में है और अपेक्षाकृत सामान्य पाठकों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है।

भिक्षु विचार-दर्शन शीर्षक से एक पुस्तक तेरापंथ के वर्तमान

आचार्य महाप्रज्ञ की है, जिसकी रचना उन्होंने युवाचार्य-काल में की थी। इसके अलावा आचार्यश्री ने संस्कृत में एक अद्‌भुत कृति *भिक्षु अष्टकम्* की रचना की है। जैसाकि नाम से स्पष्ट है, इसमें मात्र आठ श्लोक हैं, मगर इन आठ श्लोकों में ही उन्होंने आचार्य भिक्षु के विचार-दर्शन तथा विराट स्वरूप को सूत्रबद्ध कर दिया है, जो उनके अपूर्व रचना-कौशल का परिचायक है। आठ श्लोक अर्थात् मात्र 32 पंक्तियाँ, किंतु एक-एक श्लोक और प्रत्येक श्लोक के एक-एक पद में भावों का जो सागर लहरा रहा है, उसमें गहरी डुबकी लगाकर ही जाना जा सकता है कि वहाँ कैसे-कैसे बहुमूल्य रत्न छुपे हुए हैं। सच्चे अर्थों में यह रचना 'गागर में सागर' की कहावत चरितार्थ करती है। यहाँ इन श्लोकों के भाव-वैभव और इनमें संकेतित आचार्य भिक्षु के जीवन-प्रसंगों की एक हल्की-सी झाँकी दिखाने का प्रयास किया गया है।

यह पुस्तक मेरे अनन्य मित्र अनामदास की परिकल्पना का प्रतिफल है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि मैं आचार्य भिक्षु के जीवन तथा व्यक्तित्व से नितांत अनभिज्ञ था और इससे भी बड़ी बात यह कि धार्मिक विषयों में मेरी प्रवृत्ति नहीं के बराबर थी। उन्हीं की सतत प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से मैं इस कार्य को संपन्न कर सका हूँ। पग-पग पर उनके और उनकी विदुषी पत्नी के सुझाव मुझे मिलते रहे। इस नाते कहूँ कि मैं इसके लेखन में निमित्त-मात्र हूँ और सारा श्रम उन्हीं दोनों का है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। पुस्तक को नयनाभिराम तथा हृदयग्राही बनाने में मेरे मित्रद्वय - चित्रकार सचिन जलतारे तथा कंप्यूटर-डिजाइनिंग के विशेषज्ञ अनवर ने आत्मीय भाव से काम किया है। कंप्यूटर पर कंपोजिंग और कंपोज की हुई सामग्री में बार-बार संशोधन-परिवर्धन तथा उलट-फेर कर देने पर भी धर्मेंद्र पारख कभी क्षुब्ध नहीं हुए और घड़ी की सुइयों पर ध्यान दिए बिना देर-रात तक धैर्य से काम करते रहे। इन तीनों के प्रति मैं

हृदय से आभारी हूँ।

इस पुस्तक के लेखन में श्रीचंदजी रामपुरिया, निकायप्रमुख मुनि बुद्धमलजी तथा आचार्यश्री महाप्रज्ञ के ग्रंथों से भरपूर सहायता ली गई है। अतः इन सब महानुभावों के प्रति आभार प्रकट करना हमारा पुनीत कर्तव्य है।

आशा है कि जिज्ञासु पाठक इस पुस्तक से आचार्य भिक्षु के तेजोमय व्यक्तित्व और उनकी ऊर्जस्विनी साधना की सुरसरिता में अवगाहन करने के लिए प्रेरित होंगे।

मोहन गुप्त



आचार्य भिक्षु की जीवन-कथा : जन्म से दीक्षा तक

यह जीवन-कथा है एक ऐसे तेजस्वी बालक की, जिसने अपने कर्तृत्त्व से उस धरा को अमर बना दिया, जिस पर उसने जन्म लिया था। बालक का नाम था भिक्खु। यही बालक आगे चलकर तेरापंथ धर्मसंघ का प्रवर्तक बना और आचार्य भिक्षु के नाम से विख्यात हुआ।

कथा का आरंभ होता है राजस्थान में स्थित जोधपुर रियासत के एक छोटे से ग्राम कंटालिया से। आज से लगभग 300 साल पहले उस ग्राम के एक सम्मानित व्यक्ति थे, शाह बल्लूजी। उनकी पत्नी का नाम लाछड़दे था। उन्होंने एक पुत्र को जन्म दिया, जिनका नाम होलोजी रखा गया। किंतु पुत्र के सर पर अपनी माँ की ममता का साया अल्पकालीन रहा। कुछ वर्ष पश्चात् ही उनकी मां लाछड़दे की मृत्यु हो गई। तब शाह बल्लूजी ने दूसरा विवाह किया दीपाँजी से। नाम के अनुरूप ही उनके आने से घर मानों उजालों से भर गया। बेटे होलोजी को फिर से ममता का आँचल मिला, शाह बल्लूजी निश्चिंत हुए।

समय अपनी गति से प्रवाहमान था। गृहस्थ जीवन सामान्य गति से चल रहा था कि एक दिन बल्लूजी और दीपाँजी के जीवन में आह्लाद की रश्मियाँ प्रस्फुटित हुईं। कुछ समय पश्चात् वि.सं. 1783 की आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन दीपाँजी की कोख से एक तेजस्वी बालक ने जन्म लिया। सबका मन आह्लाद से भर गया। बालक का

नाम रखा गया भीखण। माँ-बाप लाड़ में उसे भिक्खु कहकर भी पुकारते थे। बालक बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि था। अपने होनहार बालक को देखकर माँ-बाप फूले न समाते।

दीपाँजी जिस समय गर्भवती थीं, उन्होंने सिंह का स्वप्न देखा था। जैन परंपरा में यह स्वप्न चौदह महास्वप्नों में गिना जाता है और किसी महापुरुष के अवतरण का सूचक माना जाता है। अतः दीपाँजी और बल्लूजी को विश्वास हो गया था कि भीखण एक दिन बहुत बड़ा आदमी बनेगा और परिवार के व्यवसाय को बढ़ाकर अकूत संपत्ति का स्वामी होगा।

माँ के स्वप्न के अनुरूप भीखणजी का व्यक्तित्व उभरने लगा। वे बचपन से ही बुद्धिमान और हाजिरजवाब थे। बहुत कम आयु में उन्होंने महाजनी विद्या सीखकर पिता के व्यवसाय में हाथ बटाना शुरू कर दिया था और उनकी बुद्धिमत्ता तथा सूझबूझ के कारण समाज में भी उनका सम्मान था, किंतु इसके समानांतर एक धारा और थी — अध्यात्म की धारा। साधु-संतों के निरंतर सत्संग से उनका झुकाव क्रमशः आध्यात्मिकता की ओर बढ़ रहा था।

पिता ने जब देखा कि भिक्खु व्यवसाय को अच्छी तरह सँभालने





लगा है, तो उन्होंने एक संस्कारी परिवार की सुंदर व गुणवती कन्या देखकर, उसके साथ भिक्खु का विवाह कर दिया। अपने गुणों के अनुरूप कन्या का नाम था सुगणीबाई।

भीखणजी की तरह सुगणीबाई भी धार्मिक विचारों से ओतप्रोत थीं। विचार-साम्य के कारण पति-पत्नी के बीच अच्छा सामंजस्य हो गया।

समय आने पर सुगणीबाई ने एक पुत्री को जन्म दिया। भीखणजी स्वयं पिता बन गए, मगर उनके अपने पिता का साया उनके सिर से उठ गया। पिता की इस तरह कम उम्र में मृत्यु और माँ के वैधव्य ने उनके मन में करुणा का संचार कर दिया और वे और अधिक वेग से आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होने लगे। गृहस्थ जीवन के भोग से उन्हें अरुचि होने लगी। अंततः उन्होंने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। सौभाग्य से उनकी पत्नी सुगणीबाई भी उनके अनुकूल थीं। उनका रुझान भी विषय-सुख की अपेक्षा वैराग्य की ओर अधिक था। वे सच्चे अर्थों में भीखणजी की अर्धांगिनी थीं। इसलिए भीखणजी ने जब अपना निश्चय सुगणीबाई को बताया, तो सुगणीबाई ने भी पति के साथ दीक्षित होने का संकल्प कर लिया। सोने में सुहागेवाली बात हो गई। पत्नी के भी दीक्षित होने के संकल्प से भीखणजी को अपार



आनंद हुआ। दोनों ने एक साथ प्रतिज्ञा की कि दीक्षा लेने तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे और साथ ही एकांतर (एक दिन छोड़कर एक दिन) उपवास रखेंगे।

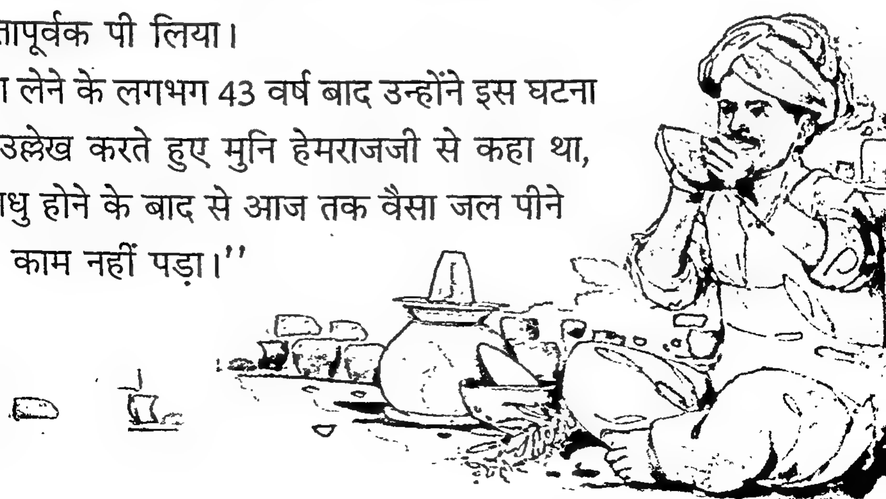
भीखणजी की आयु उस समय मात्र 25 वर्ष की थी, तो सुगणीबाई की उनसे कुछ कम ही रही होगी। इस पूर्ण यौवन काल में ब्रह्मचर्य तथा एकांतर उपवास का व्रत लेना सामान्य बात नहीं थी, पर भीखणजी और सुगणीबाई भी तो सामान्य नहीं थे। वे दोनों ही दृढ़ संकल्प के धनी थे।

पति-पत्नी की साधना आरंभ हो गई। किंतु अदृष्ट को शायद यह मंजूर नहीं था कि उन दोनों की दीक्षा हो। अकस्मात् साधनाकाल में ही सुगणीबाई का देहांत हो गया। भीखणजी को इस घटना से मर्मांतक पीड़ा हुई, किंतु वे जिस पथ पर चलने का निश्चय कर चुके थे, वहाँ इन मानवीय दुर्बलताओं के लिए कोई स्थान नहीं है — यह

विचार मन में आते ही उनकी चिंतन-धारा बदल गई। जीवन की क्षणभंगुरता का नग्न रूप उन्हें अपनी आँखों के सामने खड़ा दिखाई दिया। वे सोचने लगे कि कब क्या हो जाए कोई भरोसा नहीं है, अतः जो करना है वह जल्दी से जल्दी कर लेना चाहिए। परिणामतः उनकी वैराग्य भावना में ज्वार आ गया, किंतु वे दीक्षा लेने से पूर्व अपने मन की दृढ़ता को पूरी तरह परख लेना चाहते थे।

भीखणजी जानते थे कि दीक्षा लेने का अर्थ घोर कष्टमय जीवन को स्वीकार करना है। चंचलचित्त मनुष्य जहाँ एक विचार मन में आते ही उसे तुरंत कार्यान्वित कर डालता है और फिर पछताता है कि मैंने ऐसा क्यों किया, वह स्थिति भीखणजी के साथ नहीं थी। उनकी चित्तवृत्ति स्थिर थी, इसलिए वे श्रमण-जीवन के कष्टों की कल्पना करके कठोर साधना में लीन हो गए। वे मीलों पैदल चलते, भूखे-प्यासे रहते और शरीर को अधिक से अधिक तपाते। एक बार तो उन्होंने कैर का ओसाया हुआ पानी भी पीकर देखा ताकि इस बात की परीक्षा हो सके कि साधु जीवन में वे अचित्त पानी न मिलने पर सचित्त पानी न पीने का नियम निभा सकेंगे या नहीं। अचित्त पानी के मुकाबले कैर का ओसाया हुआ पानी राजस्थान में सहज सुलभ रहा है, मगर यह बेहद बदजायका होता है, जिसे सामान्य व्यक्ति नहीं पी सकता। फिर भी भीखणजी ने उसे समतापूर्वक पी लिया।

दीक्षा लेने के लगभग 43 वर्ष बाद उन्होंने इस घटना का उल्लेख करते हुए मुनि हेमराजजी से कहा था, "साधु होने के बाद से आज तक वैसा जल पीने का काम नहीं पड़ा।"





इधर भीखणजी संयम-साधना में लीन थे और उधर उनके सामने दूसरे विवाह के प्रस्ताव आने लगे। उन दिनों पहली पत्नी के निधन के बाद पुनर्विवाह की प्रथा आम थी। स्वयं उनके पिता ने पहली पत्नी के निधन के बाद दूसरा विवाह किया था। अतः प्रस्ताव रखनेवालों को लगता था कि वे भी इसके लिए तैयार होंगे और हों भी क्यों नहीं! अभी उनकी उम्र ही क्या है! साथ ही समाज में मान-सम्मान है और व्यापार भी जमा हुआ यानी किसी भी कन्या के लिए योग्य वर। लेकिन यह उनका अपना नजरिया था, भीखणजी की मनोदशा वे नहीं समझते थे। वे उनकी वैराग्यजनित उदासीनता को पत्नी-वियोग से जोड़कर देख रहे थे। उन्हें यह बात समझ में नहीं आती थी कि भीखणजी ने सुगणीबाई के साथ ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था, अब उनके न रहने पर भला वे अपने व्रत से कैसे डिग सकते हैं? भीखणजी ने दृढ़तापूर्वक हर अच्छे संबंध को भी ठुकराकर सिद्ध कर दिया कि वे इंद्रियों के वश में नहीं हैं बल्कि इंद्रियां उनके वश में हैं और उनका निश्चय अटल है।

भीखणजी संयम-साधना के साथ-साथ योग्य गुरु की तलाश भी कर रहे थे। उनके पिता जैन श्वेतांबर परंपरा में गच्छवासी संप्रदाय के अनुयायी थे, इसलिए स्वाभाविक था कि वे उसी संप्रदाय में दीक्षित होते, किंतु वहाँ उनके जिज्ञासु मन को समाधान नहीं मिला। फिर उन्होंने विभिन्न संप्रदायों के साधुओं से संपर्क साधा, उनके प्रवचन सुने, उनके साथ विचार-विमर्श किया, किंतु योग्य गुरु की संभावना उन्हें कहीं भी नहीं दिखी। अनेक स्थानों पर खोज करते हुए अंततः उनका तृषित मन बाईस टोला के स्थानकवासी संप्रदाय में आचार्य रुघनाथजी के तत्त्वज्ञान से प्रभावित हुआ, जो अपने समय के अत्यंत प्रतिष्ठित विद्वान, शास्त्रों के मर्मज्ञ तथा प्रभावशाली आचार्य थे। वे भी इस बीच भीखणजी की गहन जिज्ञासा-वृत्ति

सत्यनिष्ठा से परिचित हो चुके थे। कहना न होगा कि दोनों ही एक-दूसरे से प्रभावित हुए थे।

आखिरकार निश्चय हो गया कि भीखणजी आचार्य रुघनाथजी से ही दीक्षा लेंगे, किंतु उसके लिए माँ दीपाँजी की स्वीकृति अनिवार्य



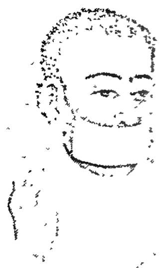
थी और उन्होंने अनुमति देने से इनकार कर दिया। अपने होनहार पुत्र को, जो उनके बुढ़ापे का एकमात्र सहारा था, भला कैसे वे दीक्षा की अनुमति देतीं! यह भीखणजी के लिए सचमुच परीक्षा की घड़ी थी। एक तरफ दीक्षित होने का संकल्प और दूसरी तरफ माँ की ममता, उसके आँसू। बहुत ऊँच-नीच समझाने के बाद भी जब वे किसी तरह तैयार नहीं हुईं, तो आचार्य रुघनाथजी स्वयं उनके पास पहुंचे और उन्हें समझाया, ''तुम्हारा स्वप्न विफल नहीं होगा। साधु होकर यह सिंह की तरह दहाड़ेगा।''

रुघनाथजी की बातों का दीपाँजी पर असर हुआ और उन्होंने दीक्षा की अनुमति दे दी।

माँ की आज्ञा प्राप्त होते ही भीखणजी दीक्षा लेने की तैयारी करने लगे। अपनी पुत्री का विवाह वे पहले ही कर चुके थे। अब उन्होंने व्यापार को समेटकर सारी पूंजी व्यवस्थित की और माताजी को उनकी अनुपस्थिति में कोई कष्ट न हो, इस दृष्टि से उनके भरण-पोषण के लिए जमीन-जायदाद के अतिरिक्त एक हजार रुपए नकद उनके पास जमा कर दिए।

आज की परिस्थितियों में एक हजार रुपए की राशि भले ही बहुत छोटी प्रतीत हो, लेकिन आज से लगभग ढाई सौ वर्ष पहले जीवनोपयोगी वस्तुओं के जो भाव थे, उन्हें देखते हुए यह इतनी बड़ी रकम थी कि इसके सहारे आसानी से जीवन-यापन किया जा सकता था। भीखणजी ने विक्रम संवत् 1808 (ईस्वी सन् 1751) में दीक्षा ग्रहण की थी। उस समय के बाजार-भावों की प्रामाणिक जानकारी तो उपलब्ध नहीं है, लेकिन उसके 35 वर्ष बाद संवत् 1843 की एक प्राचीन बही मिली है, जिसमें विभिन्न वस्तुओं के उस वर्ष के बाजार-भाव दिए गए हैं। उस बही के अनुसार 20 सेर (लगभग 18.5 किलोग्राम) गेहूँ का मूल्य 12 आने (आज के 75 पैसे), उतने ही वजन की दालों का मूल्य एक रुपया और एक सेर (लगभग 933 ग्राम) घी का मूल्य कुल ढाई आने (आज के 15 पैसे) था। ये तो 35 वर्ष बाद के भाव हैं, 35 वर्ष पहले निश्चित रूप से ये काफी कम रहे होंगे। इन भावों से अंदाजा लगाया जा सकता है कि उस जमाने में एक प्राणी के जीवन-निर्वाह के लिए एक हजार रुपए की रकम कितनी बड़ी थी।

जो हो, भीखणजी के संकल्प की यह पहली अग्निपरीक्षा थी, जिसमें वे माँ की ममता, धन-वैभव का मोह तथा दुर्दमनीय इंद्रिय-सुख त्यागकर उत्तीर्ण हुए और आचार्य रुघनाथजी से दीक्षित हो गए।



॥ भिक्षु

अकम्पः संकल्पः क्वचिदपि न केनापि चलितः,
न चित्ते चांचल्यं न च विपथगामीन्द्रियगणः।
समं सोढा गालिः क्वचन घनमुष्टेः प्रहरणं,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे ॥1॥

न रागो न द्वेषो घटितघटनासु प्रतिकृतः,
विरोधः सद्भावे परिणतमुपागात् प्रतिपदम्।
न लेशः क्लेशानां समजनि निमेषं सहचरः,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे ॥2॥

अलब्धेऽप्याहारे सुमतिरचलन्नो क्षणमपि,
न लब्धं सुस्थानं तदपि पथि नीते स्थिरमतिः।
न कष्टं तत्कष्टं भवति यदि चित् स्पष्टमुदिता,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे ॥3॥

सदा स्वच्छो भावो जिनवचनभावैरपमलः,
कृतादर्शा प्रज्ञा मतिविभवमाक्रम्य सुगता।
न चेर्ष्या नो निन्दा गहनतमनिष्ठा स्वचरिते,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे ॥4॥

अष्टकम् ॥

न सा काम्या बुद्धिर्भवति खलु या बन्धनिरता,
प्रशस्यां तां मन्ये भवति च यतश्चिद् विकसिता।
स्वचैतन्ये निष्ठा प्रशमसुखवृष्टेरनुभवः,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे ॥ 5 ॥

ज्वरो यस्याध्वानं सततमविगानं विहितवान्,
निराशा संन्यस्ता सरिति रवितापेन सुतराम्।
प्रकाशः सम्प्राप्तो गहनतिमिरे चैत्यनिलये,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे ॥ 6 ॥

अगम्यं यन्नाम प्रबलतपसा सञ्चितयशो,
न शेषाः संक्लेशा विलयमुपयान्ति स्मरणतः।
नयन ॐ ऐं ॐ ॐ अमलमनसार्हं सवलयं,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे ॥ 7 ॥

मतिः सिद्धा शुद्धा भवतु प्रतिबुद्धा प्रतिपलं,
मनो हित्वा भ्रान्तिं व्रजतु सुखदां शांतिममलाम्।
सदा ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं स्फुरतु नितरां भावनिचये,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे ॥ 8 ॥

॥ 1 ॥

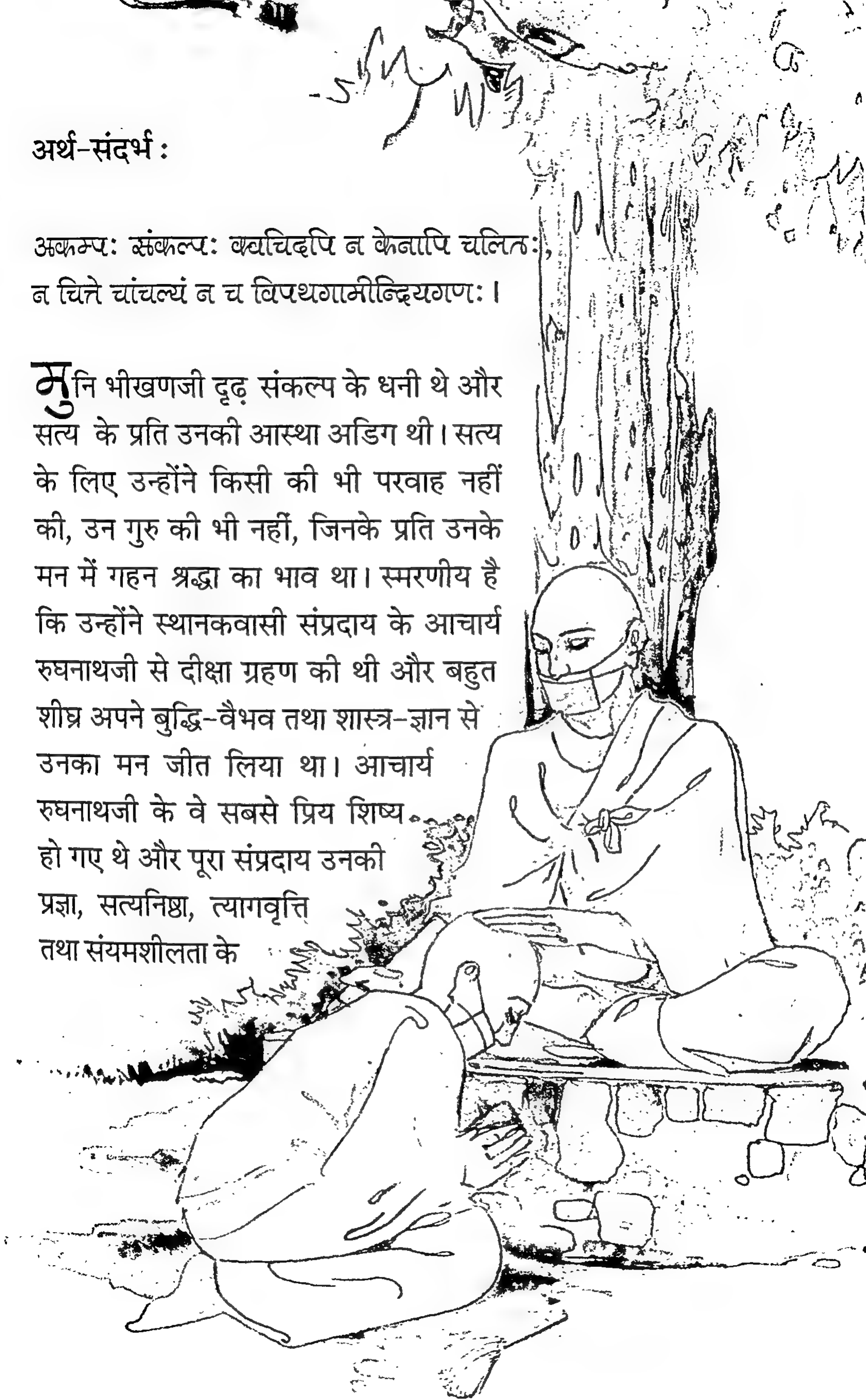
अकम्पः संकल्पः क्वचिदपि न केनापि चलितः,
न चित्ते चांचल्यं न च विपथगामीन्द्रियगणः।
समं सोढा गालिः क्वचन घनमुष्टेः प्रहरणं,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे॥

शब्दार्थ :

अकम्पः –अकंपित। संकल्पः –संकल्प। क्वचिदपि– कहीं भी। न– नहीं। केनापि– किसी के द्वारा भी। चलितः– विचलित हुए। न चित्ते– न चित्त में। चाञ्चल्यं– चंचलता। न च – और न ही। विपथगामीन्द्रियगणः– कुमार्ग पर जानेवाली इन्द्रियों का समूह। समं– समभाव से। सोढा– सहन किया। गालिः– कटु–वचन। क्वचन– कहीं। घनमुष्टेः– सघन मुष्टि का। प्रहरणं– प्रहार। प्रसन्नात्मा–निर्मल आत्मा। भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे– भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

भावानुवाद :

(आचार्य भिक्षु का) संकल्प अकंपित था, कहीं भी, किसी के द्वारा भी विचलित नहीं हुआ। न चित्त में चंचलता थी, और न इंद्रिय समूह कभी विपथगामी बना। कहीं कटुवचन, कहीं सघन मुष्टि के प्रहार समभाव से सहन किए। ऐसे प्रसन्नात्मा भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।



अर्थ-संदर्भ :

अकम्पः संकल्पः क्वचिदपि न केनापि चलितः,
न चित्ते चांचल्यं न च विपथगामीन्द्रियगणः।

मुनि भीखणजी दृढ़ संकल्प के धनी थे और सत्य के प्रति उनकी आस्था अडिग थी। सत्य के लिए उन्होंने किसी की भी परवाह नहीं की, उन गुरु की भी नहीं, जिनके प्रति उनके मन में गहन श्रद्धा का भाव था। स्मरणीय है कि उन्होंने स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्य रुघनाथजी से दीक्षा ग्रहण की थी और बहुत शीघ्र अपने बुद्धि-वैभव तथा शास्त्र-ज्ञान से उनका मन जीत लिया था। आचार्य रुघनाथजी के वे सबसे प्रिय शिष्य हो गए थे और पूरा संप्रदाय उनकी प्रज्ञा, सत्यनिष्ठा, त्यागवृत्ति तथा संयमशीलता के

आगे नतमस्तक होने लगा था। निश्चित था कि रुघनाथजी के बाद भीखणजी ही अगले आचार्य होंगे।

लगभग सात वर्ष तक यह क्रम सुचारु रूप से चलता रहा। किसी को कल्पना भी नहीं थी कि निरभ्र-निर्मल आकाश से सहसा भयानक उपलवृष्टि होगी और सब कुछ तितर-बितर हो जाएगा।

घटना मेवाड़ स्थित राजनगर की है। वहाँ आचार्य रुघनाथजी के अनुयायी श्रावकों ने संघ के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उनका कहना था कि साधुओं के आचार में शिथिलता आ गई है, इसलिए वे उनकी वंदना नहीं करेंगे। रुघनाथजी को इस बात की सूचना मिली, तो उन्होंने श्रावकों का गुस्सा शांत करने के लिए अपने सर्वाधिक प्रिय तथा मेधावी शिष्य मुनि भीखणजी को राजनगर भेजा। भीखणजी ने वहाँ जाकर श्रावकों की बात ध्यान से सुनी और महसूस किया कि उनकी बातों में सार है। उन्हें स्वयं भी काफी समय से यह लग रहा था कि साधुओं के आचार-विचार में अनेक दोष उत्पन्न हो गए हैं। किंतु किसी निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले उन्होंने यह जान लेना जरूरी समझा कि आगम इस विषय में क्या कहते हैं। अतः श्रावकों से उन्होंने यही कहा कि अध्ययन-मनन करने के पश्चात जो सत्य उद्घाटित होगा, वह उनके सामने रखेंगे। अंततः आगमों का दो-दो बार अनुशीलन करके जब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि श्रावकों का पक्ष ही सत्य का पक्ष है, तो उन्होंने इस बात को छुपाया नहीं और श्रावकों को आश्वस्त किया कि वे गुरुदेव से चर्चा करके साधु-समाज के शिथिलाचार पर अंकुश लगवाएँगे।

भीखणजी के साथ उस समय चार साधु और थे — टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी तथा भारमलजी। चातुर्मास की समाप्ति पर भीखणजी को अपनी मंडली सहित राजनगर से मारवाड़ की ओर

विहार करना था, क्योंकि गुरुदेव आचार्य रुघनाथजी मारवाड़ में विराज रहे थे। भीखणजी ने साधुओं के दो दल बनाकर दो अलग-अलग मार्गों से मारवाड़ पहुंचने का निश्चय किया ताकि दोनों मार्गों पर पड़नेवाले गांवों में धर्मचर्चा का अवसर मिल सके। एक दल में दो साधुओं के साथ वे स्वयं रहे और दूसरा दल वीरभाणजी तथा एक अन्य साधु का बना दिया।

राजनगर से विहार करते समय भीखणजी ने वीरभाणजी को सावधान किया कि अगर आप गुरुदेव के पास पहले पहुँचें, तो उन्हें यहां के घटनाक्रम के बारे में कुछ न बताएँ, मैं स्वयं ही सारा चिंतन अपने तरीके से उनके सामने प्रस्तुत करूँगा, क्योंकि मामला नाजुक है और जरा-सी असावधानी होने से बात बिगड़ सकती है। वीरभाणजी ने भीखणजी की बात मान तो ली, किंतु सोजत पहुँचकर, जहां आचार्य रुघनाथजी उस समय विराज रहे थे, अपनी वाणी पर संयम नहीं रख पाए और जैसे ही आचार्य ने पूछा कि श्रावकों की शंकाओं का समाधान हुआ या नहीं, उन्होंने कहा, "उनकी शंकाएं ग़लत नहीं हैं, गुरुदेव! वे जो कहते हैं, वह सब सत्य है, यह बात सिद्ध हो गई है।"

"तुम कहना क्या चाहते हो? मैं समझा नहीं!"

"मैं तो संक्षेप में ही बता सकता था, सो आपको बता दिया। बाकी विस्तार से तो भीखणजी ही बताएंगे।"

बात को जिस ढंग से कहा गया, उससे आचार्य रुघनाथजी के मन में यह बात बैठ गई कि भीखणजी ने राजनगर में उनका पक्ष-समर्थन न करके श्रावकों का पक्ष-समर्थन किया है। नतीजतन भीखणजी ने लौटकर जब उनके सामने अपना पक्ष प्रस्तुत करना चाहा, तो वे उनकी एक भी बात सुनने को तैयार नहीं हुए और नाराज होकर बोले, "तुम्हारे मन में संघ के प्रति शंकाएँ उत्पन्न हो गई हैं, इसलिए



अब हमारा और तुम्हारा साथ नहीं रह सकता। आज से तुम हमारे सहभोजी भी नहीं रहोगे।''

गुरु की इस बात से भीखणजी बहुत आहत हुए। उन्होंने केवल आगमसम्मत सत्य को उजागर किया था, गुरु को छोड़ देने की बात उनकी कल्पना में भी नहीं थी। ऐसा तो वही व्यक्ति सोच सकता था, जिसकी चित्तवृत्तियाँ चंचल हों और जिसके स्वभाव में धैर्य न हो। वह उचित या अनुचित जो भी मन में आए, तुरंत कर डालता है। किंतु भीखणजी के चित्त में चांचल्य नहीं था। उनके सामने अगर कोई गंभीर स्थिति, प्रश्न अथवा समस्या होती थी, तो उसका समाधान वे

जल्दबाजी में नहीं बल्कि ठंडे मन से सोच-विचारकर करते थे। और फिर, उनके मन में तो गुरु के प्रति गहरी श्रद्धा भी थी। उन्हें पूरा विश्वास था कि सारी स्थिति को सही परिप्रेक्ष्य में समझ लेने के बाद गुरुदेव स्वयं ही संघ को सुदृढ़ बनाने के लिए कड़ी अनुशासनात्मक कार्रवाई करेंगे। फलत: उन्होंने अनुनय-विनय करके किसी तरह आचार्य रुघनाथजी को बातचीत के लिए तैयार कर लिया और राजनगर में जो कुछ हुआ था, वह सब विनम्र भाव से ब्यौरेवार बताते हुए कहा, "हम लोगों ने आत्मकल्याण और पर-कल्याण के लिए घर छोड़ा है, इसलिए हमें किसी प्रकार का आग्रह न रखकर आगम-वाणी के अनुसार ही अपनी मान्यताएँ रखनी चाहिए। अपने संघ की स्थिति को देखकर यह कहा जा सकता है कि यहाँ आगम-विरुद्ध आचार की परिपाटी चल रही है। मेरी विनती है कि इस पर सम्यक् दृष्टि से विचार करके संघ का पुनरुद्धार करें।"

भीखणजी के मन में न तो आचार्यत्व की कामना थी और न अलग धर्मसंघ स्थापित करने की महत्वाकांक्षा। वे तो मात्र सत्य के उपासक थे और इतना ही चाहते थे कि गुरुदेव सत्य के मार्ग से भटके हुए धर्मसंघ को व्यवस्थित-अनुशासित करके एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करें, जो सत्यनिष्ठा का प्रतीक बन जाए। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर उन्होंने अनेक प्रकार से, आगमों के उद्धरण देते हुए, अपनी बात आचार्य रुघनाथजी के सामने रखी, किंतु उनपर उसका कोई असर नहीं हुआ बल्कि वे और अधिक नाराज हो गए। भीखणजी ने सोचा कि गुरुदेव इस समय उत्तेजना में होने के कारण मेरी बात पर ध्यान नहीं दे रहे हैं, कुछ समय बाद जब उत्तेजना का शमन होगा, तो शांत मन से उचित-अनुचित का निर्णय कर सकेंगे। किंतु यह उनकी निरी कल्पना सिद्ध हुई!

लगभग डेढ़ वर्ष तक प्रयत्न करके भी जब कोई नतीजा नहीं

निकला, तो उन्होंने मान लिया कि अब गुरुदेव से सत्य-क्रांति की अपेक्षा करना व्यर्थ है और जो कुछ करना है वह सर्वथा स्वतंत्र होकर, अपने ही बलबूते पर करना होगा। यह निश्चय करके उन्होंने संघ से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया। संघ के चार अन्य संत — टोकरजी, हरनाथजी, भारमलजी और वीरभाणजी भी उनके साथ हो लिए। यह देखकर आचार्य रुघनाथजी बहुत परेशान हुए। वे सोचते थे कि मुनि भीखण एक दिन अपना हठ छोड़ देंगे, किंतु यहाँ तो हठ नहीं, सत्य के प्रति आस्था का प्रश्न था, अतः वे अपने पथ पर दृढ़ता से चल पड़े। आचार्य रुघनाथजी के लिए यह बड़ा आघात था। भीखणजी जैसे योग्य शिष्य को वे इस तरह खोने के लिए तैयार नहीं थे। लिहाजा उन्होंने भीखणजी से मिलकर उन पर भाँति-भाँति के



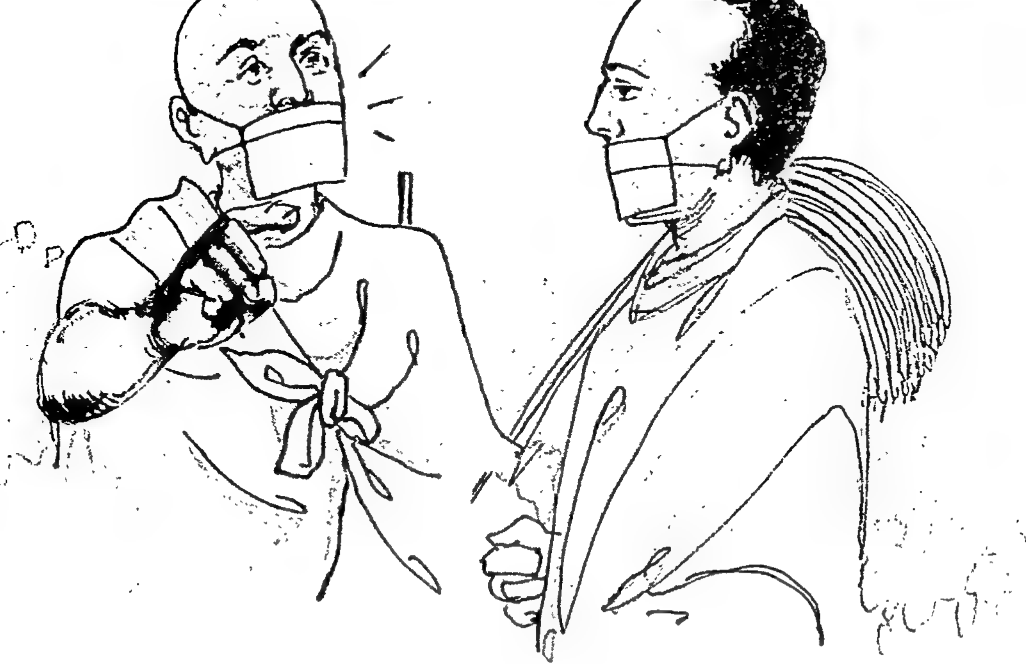
दबाव डाले कि वे संघ में लौट आएँ। किंतु भीखणजी इसके लिए तैयार नहीं हुए।

भीखणजी का यह रुख देखकर रुघनाथजी को घोर निराशा हुई। अपने प्रखर आचार्यत्व के बावजूद वे जानते थे कि भीखणजी सरीखा शिष्य किसी भी संघ के लिए गौरव का विषय है, उसे खो देना एक बहुमूल्य रत्न खो देने के समान है। अतः उन्होंने भीखणजी को अपने रास्ते पर लाने का नया उपाय सोचा। वे उनकी माता दीपाँजी के पास गए और उन्हें समझाने का प्रयास किया, "तुम्हारा पुत्र अविनीत होकर कुमार्ग पर चल रहा है, उसे समझाओ।" किंतु दीपाँजी इस पूरे घटनाक्रम से परिचित हो चुकी थीं, अतः उन्होंने आचार्य रुघनाथजी से स्पष्ट शब्दों में कहा, "महाराज, आपने मेरे पुत्र के दीक्षा लेने से

पहले कहा था कि वह साधु के रूप में सिंह की भाँति दहाड़ेगा। आपका वही कथन सही था। आज वह आपके संघ से अलग हो गया है, तो आप उसके विरुद्ध बोल रहे हैं। क्षमा कीजिए, महाराज! मैं आपकी यह बात मानने को तैयार नहीं हूँ। मुझे अपने पुत्र के चारित्र्य पर पूरा विश्वास है। इस समय आप जो कह रहे हैं, उससे आपकी ही पहले कही हुई बात का खंडन होता है।''

दीपाँजी के मुख से यह बात सुनने के बाद आचार्य रुघनाथजी बहुत खिन्न हुए। वे फिर से भीखणजी के पास गए और उन्हें संघ में वापस आने के लिए समझाते-बुझाते हुए भावुक हो उठे। उनकी आँखें भर आईं। उनका खयाल था कि भीखणजी पिघल जाएँगे। किंतु भीखणजी





ने अनासक्त भाव से कहा, ''मैंने अपनी परम प्रिय और ममतामयी माँ के आँसुओं की भी परवाह न करके संसार त्याग दिया था, तो आज आपके आँसू मुझे सत्य के पथ से नहीं डिगा सकते।''

विरोधी को वश में करने के चार उपाय कहे गए हैं—साम, दाम, दंड और भेद। साम और दाम का प्रयोग वे कर चुके थे, किंतु भीखणजी के उपर्युक्त उत्तर से साबित हो गया कि उनके ये दोनों वार निष्फल रहे हैं। उनका अहं प्रचंड रूप में उभर आया और उन्होंने दंड-नीति का आश्रय लेते हुए भीखणजी को धमकी दी, ''याद रखना, तेरे मार्ग में बाधाओं के पहाड़ खड़े कर दूँगा।'' भीखणजी जानते थे कि आचार्य रुघनाथजी जो कह रहे हैं, वैसा करने में वे समर्थ हैं और करेंगे भी अवश्य, पर बाधाओं और कष्टों से घबराकर अपने संकल्प से विरत हो जानेवालों में भीखणजी नहीं थे। उन्होंने स्वेच्छा से बीहड़ मार्ग का अनुसरण किया था, अतः अपने संकल्प से वे तिल-मात्र भी विरत नहीं हुए— न उन्हें पद-प्रतिष्ठा लुभा सकी और न भावी विपत्तियों की कल्पना डरा सकी।

आचार्य रुघनाथजी की नाराजगी के चलते उन्हें निराहार रहना पड़ा, पग-पग पर अपमानित होना पड़ा, खोजने पर भी आश्रयस्थल नहीं मिले और सबसे बड़ी बात यह कि नगर-नगर व ग्राम-ग्राम में दुष्प्रचार करके उनके प्रति जनता के मन में जहर घोल दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनका प्रवचन सुनने के लिए एक भी जिज्ञासु उपस्थित नहीं होता था। यह स्थिति अत्यंत कष्टकर व निराशाजनक थी और यही वह अवसर था जब उनकी संकल्प-शक्ति तथा स्थितप्रज्ञता का चरम रूप सामने आया। जिस स्थिति में बड़े-से-बड़ा सामर्थ्यवान भी निराश होकर बैठ जाता, उस स्थिति में आचार्य भिक्षु अपनी आस्था का दीपक जलाकर अँधेरे को चीरते हुए आगे बढ़ते रहे और अंततः तेरापंथ को आगम-सम्मत मर्यादाओं में बाँधकर उसे ऐसा सुदृढ़ रूप देने में सफल हुए, जो आज लगभग ढाई सौ वर्ष बीत जाने के बाद भी एक आदर्श धर्म-संघ के रूप में अपनी पताका फहरा रहा है।

समं सोढा गालि: क्वचन घनमुष्टे: प्रहरणं

आचार्य रुघनाथजी से संबंध-विच्छेद कर लेने के बाद आचार्य भिक्षु के जीवन में ऐसे अनेक अवसर आए जब उन्हें गालियाँ सुननी पड़ीं, दुर्वचन सहने पड़े, किंतु वे उन्हें सुनकर न तो कायर की भाँति कुंठित व हीन भावना से ग्रस्त हुए और न ही असहिष्णु व उद्दंड व्यक्ति के समान उत्तेजित हुए। उन्होंने तो समभाव से सबकुछ सुना और उसका ऐसा उत्तर दिया कि या तो गालियाँ देनेवाला स्वयं ही कुंठित हो गया या फिर विरोध विनोद में बदल गया और इस तरह आचार्य भिक्षु ने जहर को अमृत बना दिया।



एक बार मुनि खंतिविजयजी आचार्य भिक्षु से तत्त्व-चर्चा कर रहे थे। खंतिविजयजी का कहना था कि धर्म के लिए हिंसा करने में दोष

नहीं है। आचार्य भिक्षु ने प्रतिवाद करते हुए कहा, "भगवान् महावीर ने धर्म के लिए भी हिंसा करने में दोष माना है, इसे अनार्य कर्म कहा है।" आचार्य भिक्षु के इस तर्क से सहमत न होते हुए खंतिविजयजी अपनी बात पर अड़े रहे और बोले कि ऐसा कथन कहीं नहीं है। आचार्य भिक्षु ने आचारांग सूत्र की प्रति में उपर्युक्त पाठ दिखाया, तो मुनिजी अपने चेले से बोले, "भीखणजी भगवान् महावीर की वाणी का गलत पाठ बता रहे हैं। तू अपनी प्रति ला, वह शुद्ध है।" चेला अपनी प्रति ले आया, तो खंतिविजयजी ने संदर्भित पन्ना खोलकर देखा। उसमें भी वही पाठ था, जो आचार्य भिक्षु ने बताया था। पराजय के डर से वे चुप रह गए और उनके हाथ काँपने लगे। आचार्य भिक्षु ने कहा, "आपके हाथ क्यों काँप रहे हैं, पढ़कर सुनाइए। जनता सही आगम-पाठ सुनने को उत्सुक है।" खंतिविजयजी फिर भी चुप रहे, उनके हाथ और ज्यादा काँपने लगे। तब आचार्य भिक्षु ने कहा, "कंपन के चार कारण होते हैं—वात रोग, क्रोध का आवेश, काम का आवेश और चर्चा में पराजय। आप बताइए, आप किस कारण से काँप रहे हैं?"

आचार्य भिक्षु के इस प्रश्न पर मुनि खंतिविजयजी विचलित हो गए और साधु को जो भाषा नहीं बोलनी चाहिए, वही उत्तेजना में बोल उठे, "चुप रह, साले! तेरा सिर काट डालूँगा।"

यह सुनकर आचार्य भिक्षु का विनोद-भाव जाग्रत हो गया। वे सहज भाव से मुस्कुराते हुए बोले, "मुनिजी, संसार की सब स्त्रियाँ मेरी बहनें हैं। यदि आपकी पत्नी है और उसके संबंध से आपने मुझे साला कहा है, तो ठीक है। लेकिन अगर आपकी पत्नी नहीं है और फिर भी मुझे साला कहते हैं, तो आपको झूठ बोलने का दोष लगता है, क्योंकि उस स्थिति में मैं आपका साला हो ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त आपने दीक्षा लेते समय सभी जीवों को मारने का त्याग

किया था। आपकी दृष्टि में मैं साधु भले ही न होऊँ, पर मनुष्य तो हूँ। दीक्षा के समय क्या मुझे मारने की छूट रखी थी?"

आचार्य भिक्षु ने यह बात कह भी दी और सहज भी बने रहे। मुनि खंतिविजयजी पर घड़ों पानी पड़ गया।

आचार्य रुघनाथजी और उनके शिष्यों ने आचार्य भिक्षु के विरुद्ध इतना दुष्प्रचार किया था कि लोगों को उनकी बातों पर विश्वास होने लगा था। कहावत भी है कि एक झूठ को सौ बार दुहराने से वही सत्य लगने लगता है। परिणामतः विरोधी खेमे के साधु ही नहीं, आम गृहस्थ भी आचार्य भिक्षु को दुर्वचन कहने से नहीं चूकते थे। कई बार उन्हें मार डालने तक की धमकियाँ दी गईं।

एक बार एक मुनि ने कहा, "भीखणजी हमारे श्रावकों को बहकाकर अपने पक्ष में कर रहे हैं। इसलिए एक भीखणजी को छुरा मार दूँ, तो हमारे रास्ते की सारी रुकावटें दूर हो जाएँगी।"

कुछ समय बाद उन मुनिजी को आचरण-संबंधी किसी दोष के कारण प्रायश्चित लेना पड़ा, लेकिन बदनामी से बचने के लिए उन्होंने प्रचारित किया कि भीखणजी को छुरा मार देने की बात कही थी, उसी का प्रायश्चित लिया है। आचार्य भिक्षु ने यह सुना, तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ। उनका अनुमान था कि प्रायश्चित लेने का कारण अवश्य ही कोई व्रत-भंग होगा।

आचार्य भिक्षु पीठ-पीछे किसी की व्यक्तिगत आलोचना कभी नहीं करते थे, लेकिन सामने पड़ने पर सच्ची बात कहने से झिझकते भी नहीं थे, भले ही सुननेवाले को वह कड़वी लगे। सो, एक दिन अकस्मात भेंट होने पर उन्होंने मुनिजी से सीधे ही पूछ लिया, "तुम्हारा व्रत-भंग अमुक स्थिति से हुआ था या अमुक से?" मुनिजी लज्जित हो गए और उनके मुँह से दबे स्वर में सच्ची बात

निकल गई कि उन्हें दंड भीखणजी को छुरा मारने की बात कहने के लिए नहीं, किसी अन्य दोष के लिए दिया गया था।

सच्चाई जानकर भी आचार्य भिक्षु ने किसी के सामने इस बात का उल्लेख नहीं किया कि मुनिजी को किस दोष के लिए दंडित किया गया था। यह थी आचार्य भिक्षु की गम्भीरता।

आचार्य भिक्षु से चर्चा करने जो लोग आते थे, उनमें से एक बहुत कटु बोला करता था और आचार्य के शिष्यों को यह बात बर्दाश्त नहीं होती थी। आखिर एक दिन एक साधु ने उनसे कहा, "यह आदमी इतना अंटशंट बोलता है, तो आप इससे चर्चा क्यों करते हैं?"

आचार्य भिक्षु ने अपने स्वभाव के अनुरूप कहा, "अभी यह अबोध है। छोटा बच्चा जैसे अपने बाप-दादा की मूँछें पकड़कर खींचता है, उनकी पगड़ी उछाल देता है, किंतु बड़ा होकर वही उनकी सेवा भी करता है, उसी प्रकार यह भी जब समझ जाएगा तो ऐसा नहीं करेगा। आप लोग व्यर्थ की ऊहापोह में न पड़ें।"

आचार्य के इस उत्तर ने श्रद्धालुओं को निरुत्तर कर दिया।

विरोधी साधु आचार्य भिक्षु की निंदा करने के लिए नित नए विशेषणों का आविष्कार किया करते थे। इसी क्रम में एक साधु ने कहा, "भीखणजी तो करोड़ कसाइयों से भी कहीं अधिक बुरे हैं।"

आचार्य भिक्षु की जगह कोई और होता, तो यह सुनकर उत्तेजना में न जाने क्या कर बैठता, किंतु उन्होंने इसे भी समभाव से सुना और विनोद की भाषा में बोले, "ठीक ही तो कहता है। कसाई बकरों को मारते हैं, उनके संप्रदाय के साधुओं का तो कुछ नहीं बिगाड़ते! किंतु मैं उनकी गलत मान्यताओं का खंडन तो करता ही हूँ, उनके श्रावकों को उचित-अनुचित का भेद समझाकर उन्हें सही रास्ते का ज्ञान भी

कराता हूँ। मेरी बातों से प्रभावित होकर वे तेरापंथी बन जाते हैं और इस बात से उन साधुओं के स्वार्थों पर चोट होती है। ऐसी स्थिति में वे मुझे करोड़ कसाइयों से बुरा कहते हैं, तो गलत क्या कहते हैं!"

विरोधियों के कटु वचनों की तेज धार को आचार्य भिक्षु ने किस तरह फूलों की कोमलता में बदल दिया, इसका सम्यक् परिचय उपर्युक्त प्रसंगों से हो जाता है। इस विषय के और भी अनेक प्रसंग हैं, किंतु उनके विस्तार में न जाकर हम यहाँ भगवान् महावीर की वाणी उद्धृत करते हैं। भगवान् महावीर ने कहा है :

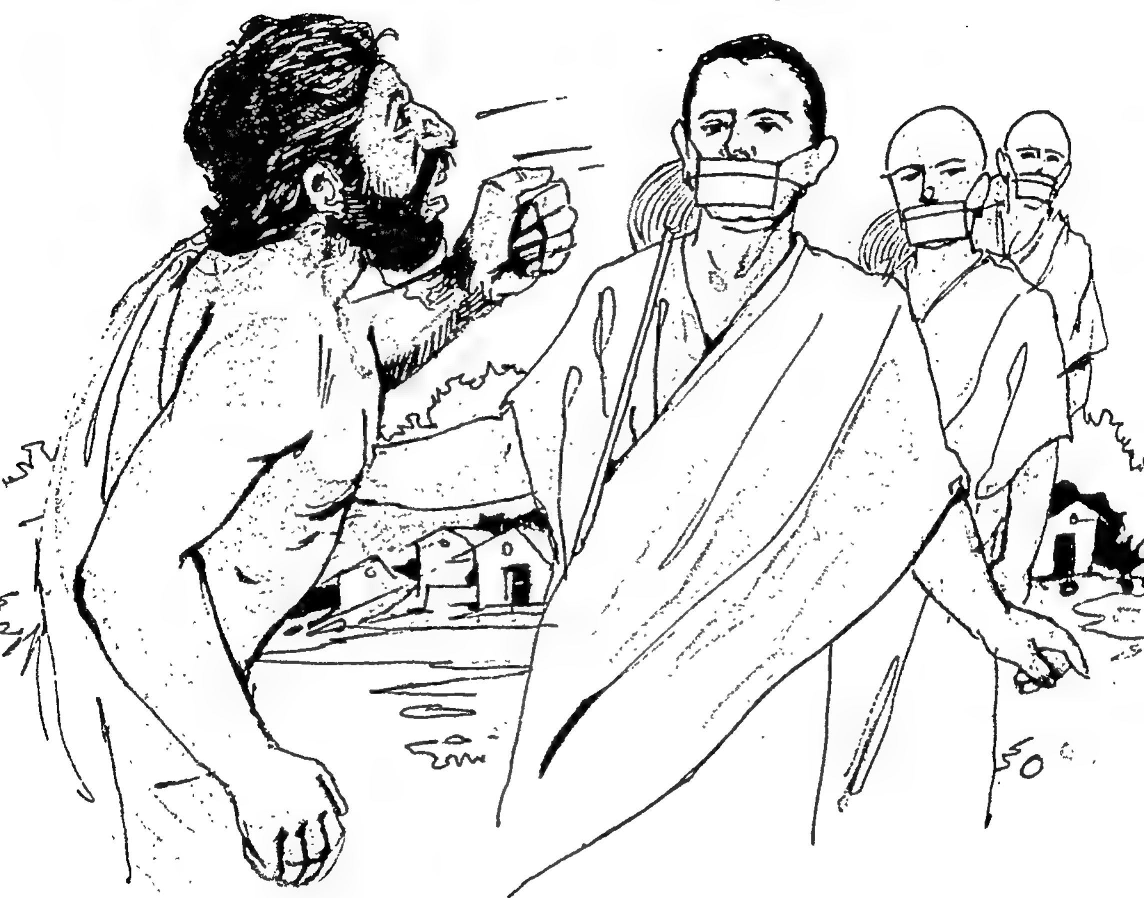
अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले॥
सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गासाकंटगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे॥

अर्थात्, दूसरे से दुर्वचन द्वारा अपमान-तिरस्कार किए जाने पर भिक्षु उसके प्रति आक्रोश नहीं करते। आक्रोश करने से भिक्षु भी उस मूर्ख के समान हो जाते हैं, अतः भिक्षु आक्रोश न करें। भिक्षु कानों में काँटों के समान चुभनेवाली अत्यंत कठोर भाषा को सुनने पर मौन रहकर उसकी उपेक्षा करें, उसे मन में स्थान न दें।

आचार्य भिक्षु ने भगवान महावीर की इस वाणी को पूरी तरह साध लिया था, तभी वे इतने क्षमाशील बन सके।

आचार्य भिक्षु को मार डालने, उनका सिर काट देने जैसी अनेक बातें विरोधियों द्वारा कही गईं, जिनकी चर्चा पिछले प्रसंग में की जा चुकी है। वे बातें केवल मौखिक थीं, किंतु उन पर शारीरिक आघात भी किया गया और फिर भी वे अपने समभाव में रहे, यह उनकी स्थितप्रज्ञता का विलक्षण उदाहरण है।

एक बार एक संन्यासी आचार्य भिक्षु के पास आया और बोला कि मैं आपसे शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ। आचार्य भिक्षु सहमत हो गए। वह बहुत देर तक आचार्य के साथ शास्त्रचर्चा करता रहा,



किंतु उसमें न तो आचार्य से ज्ञानचर्चा करने की योग्यता थी और न ही वह जिज्ञासु भाव से चर्चा कर रहा था। विरोधी संप्रदाय का होने के कारण उसका उद्देश्य तो उन्हें निरर्थक बातों में उलझाकर अपमानित करना था। किंतु बहुत देर तक चर्चा करने के पश्चात् भी

वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ तो उसे बहुत गुस्सा आया और वह क्रोधावेश में खड़ा हो आचार्य पर जोर से घूँसे का प्रहार करके चलता बना। वहाँ उपस्थित आचार्य भिक्षु के भक्तों को यह बहुत बुरा लगा, वे उसका प्रतिकार करना चाहते थे, लेकिन आचार्य ने कहा, "क्यों व्यर्थ में उत्तेजित होते हो। जब कोई मनुष्य दो-चार पैसे मूल्य की मिट्टी की हंडिया खरीदता है, तो पहले उसे ठोक-बजाकर देख लेता है कि कहीं फूटी हुई तो नहीं है। फिर यहाँ तो जीवन-भर के लिए गुरु बनाने की बात है, अतः बेचारा ठोक-बजाकर देख लेना चाहे, तो अनुचित क्या है!"

आचार्य भिक्षु के इस कथन में साधुत्व का कितना गूढ़ रहस्य छुपा हुआ था, यह उन भक्तों की समझ में शायद ही आया हो। वास्तव में जिन लोगों ने उनका भयंकर विरोध किया था उनमें से प्रायः सभी उनके अनुगामी बन गए। आचार्य भिक्षु की यही विशेषता थी कि उनके मुँह से निकला हुआ एक-एक शब्द तपःपूत होता था, जिसमें जीवन को अर्थवान बनाने के अभिप्राय छुपे रहते थे।

॥ 2 ॥

न रागो न द्वेषो घटितघटनासु प्रतिकृतः,
विरोधः सद्भावे परिणतमुपागात् प्रतिपदम्।
न लेशः क्लेशानां समजनि निमेषं सहचरः,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे॥

शब्दार्थ :

न–न। रागो–मोह। न–न। द्वेषो–द्वेष। घटितघटनासु–घटित घटनाओं में। प्रतिकृतः– प्रतिक्रिया हुई। विरोधः–विरोध। सद्भावे–अच्छे भाव में। परिणतमुपागात्– परिणत हो गया / हुआ। प्रतिपदम्– प्रत्येक कदम। न–न। लेशः– अंशमात्र। क्लेशानां–कष्टों का। समजनि–हुआ। निमेषं– क्षणभर। सहचरः –साथी। प्रसन्नात्मा– निर्मल आत्मा। भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे– भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

भावानुवाद :

घटित घटनाओं के प्रति न राग की प्रतिक्रिया हुई, न द्वेष की। अतः प्रत्येक कदम पर हुआ विरोध सद्भाव में परिणत हो गया। क्लेशों का अंशमात्र पल–भर के लिए भी उनका सहचर नहीं हुआ। ऐसे प्रसन्नात्मा भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

अर्थ-संदर्भ :

न रागो न द्वेषो घटित घटनास्सु प्रतिकृत:

घटना उदयपुर की है। आचार्य भिक्षु अपने जीवन के अंतिम दिनों में वहाँ पधारे। स्थान भी उपयुक्त मिल गया और धर्मप्रेमी जन भी उनका प्रवचन सुनने के लिए बड़ी संख्या में आने लगे। किंतु यह बात उनके विरोधियों को खल गई और उन्होंने राणा के कान भरकर उन्हें उदयपुर से निष्कासित करने का आज्ञापत्र जारी करा दिया।





हरकारा आज्ञापत्र लेकर आचार्य के पास पहुँचा और उन्हें तत्काल स्थान छोड़ने के लिए विवश कर दिया। आचार्य भिक्षु शांत मन से उठे और उसी समय वहाँ से विहार कर गए।

आचार्य भिक्षु तो स्थितप्रज्ञ थे, राणा के अनुचित आदेश पर भी क्षुब्ध नहीं हुए, किंतु उनके एक भक्त मनजी पोरवाल को यह सहन नहीं हुआ। पोरवालजी नगर के प्रभावशाली व्यापारी थे। वे तुरंत राजसभा में गए और महाराणा को आचार्य के विषय में पूरी जानकारी दी। सब सुनकर महाराणा को अपनी गलती का एहसास हुआ और पहला आदेश वापस लेकर उन्होंने तुरंत पोरवालजी के साथ अपना एक आदमी भेजा। आचार्य भिक्षु तब तक उदयपुर से विहार करके वेदला पधार चुके थे। पोरवालजी ने वहाँ जाकर आचार्य से निवेदन किया कि महाराणा अपने किए पर शर्मिंदा हैं और उन्होंने ही आपको लौटा लाने की प्रार्थना के साथ हमें आपके पास भेजा है। आचार्य ने जिस निस्संग भाव से उदयपुर छोड़ा था, उसी निस्संग भाव से महाराणा की प्रार्थना पर पुनः उदयपुर पधार गए।

पीपाड़ की एक घटना है। आचार्य भिक्षु वहाँ पधारे हुए थे। एक दिन गोचरी के लिए एक मुहल्ले में गए, तो एक बहन ने उन्हें स्थानकवासी साधु समझकर उनको वंदन किया और कहने लगी, "तेरापंथी बननेवालों को अपने-आप दंड मिल जाता है। हमारे मुहल्ले की अमुक स्त्री ने भीखणजी को गुरु बनाया था, जिसका फल यह हुआ कि थोड़े दिन बाद ही वह विधवा हो गई।"

आचार्य भिक्षु सहज भाव से बोले, "बहन, तुम्हारी वेशभूषा से स्पष्ट है कि तुम भी विधवा हो। इतनी छोटी उम्र में विधवा हो गई, क्या तुमने भी भीखणजी को गुरु बनाया था?"

पास ही कुछ और बहनें भी खड़ी थीं। उनमें से एक आचार्य भिक्षु को पहचानती थी। उसने जब सबके सामने यह बात प्रकट की, तो आचार्य भिक्षु के प्रति कठोर वचन कहनेवाली बहन बहुत लज्जित हुई और वहाँ खड़ी नहीं रह सकी।



विरोधः सद्भावे परिणतमुपागात प्रतिपदम्

आचार्य भिक्षु के स्थानकवासी संप्रदाय से अलग हो जाने के बाद आचार्य रुघनाथजी ने उनके विरुद्ध जो दुष्प्रचार किया, उसका खमियाजा खुद उन्हें ही भुगतना पड़ा और आचार्य भिक्षु का उससे फायदा हो गया। उदयपुर और नाथद्वारा से उन्हें निष्कासित कराने के मामले में आचार्य रुघनाथजी को असफलता का मुँह देखना पड़ा। न केवल वे अपनी कोशिशों में नाकामयाब रहे बल्कि उन घटनाओं का उनके श्रावकों पर भी विपरीत प्रभाव हुआ, जो आचार्य भिक्षु के शील, संयम तथा सत्य-प्रेम से आकर्षित होकर उनके धर्मसंघ में आने लगे।

यही परिणति शास्त्रार्थ के प्रसंगों की हुई। शुरू में आचार्य रुघनाथजी ने आचार्य भिक्षु के विरुद्ध छेड़े गए शास्त्रार्थ के आंदोलन में आचार्य जयमलजी को भी साथ लेने का प्रयत्न किया था और कहा था, "हम संख्या में बहुत हैं, वे मात्र तेरह हैं। सम्मिलित साहस करें, तो उन्हें 'तूँतड़ों की तरह बिखेर दें'।"

आचार्य जयमलजी के लिए यह प्रस्ताव अरुचिकर तो था ही, वे यह भी जानते थे कि इस अभियान में आचार्य भिक्षु को परास्त करना संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने रुघनाथजी को समझाते हुए कहा, "हमलोग भीखणजी का सामना नहीं कर सकते। वे आगमों के बहुत बड़े ज्ञाता हैं। तर्क-बल भी उनका अकाट्य है। अपनी प्रत्येक मान्यता को वे आगम के आधार पर पुष्ट करते हैं, जबकि हमें अपनी कमजोरियों के लिए वैसा कोई आधार नहीं मिल सकता। वे हमारे साथ वर्षों तक रहे हैं, अतः हमारी आंतरिक दुर्बलताओं से भली-भाँति परिचित हैं। सबसे बड़ी बात यह कि वे आचार-विचार में हम सबकी अपेक्षा अधिक दृढ़ हैं। इसलिए पहले सोच लीजिए कि विरोध करने पर कहीं पराजय का मुँह न देखना पड़े?"



किंतु आचार्य रुघनाथजी पर उनके सत्परामर्श का कोई असर नहीं हुआ और उन्होंने गाँव-गाँव में आचार्य भिक्षु के साथ शास्त्रार्थ करने का एक आंदोलन ही छेड़ दिया। इसके विपरीत आचार्य भिक्षु का पुरुषार्थ अपने संपूर्ण विश्वास के साथ अविचलित रहकर, सत्य की मशाल थामे विरोध के कुहरे को चीरता हुआ, निर्भय बढ़ता चला जा रहा था। परिणाम यह हुआ कि स्वयं आचार्य रुघनाथजी के श्रावक आचार्य भिक्षु से प्रभावित होकर तेरापंथी बन गए।

न लेश: क्लेशानां समजनि निमेषं सहचर:।

एक बार आचार्य भिक्षु देसूरी जा रहे थे। रास्ते में घाणेराव का एक महाजन मिला। उसने आचार्य को पहले कभी देखा नहीं था, इसलिए वंदन करने के बाद पूछ बैठा, "आपका नाम क्या है, महाराज?" आचार्य ने अपना नाम बताया, तो वह जैसे आसमान से धरती पर आ गिरा हो! घृणामिश्रित स्वर में बोला, "भीखणजी... तेरापंथी! तब तो अनर्थ हो गया।" आचार्य ने आश्चर्य से पूछा, "क्यों, क्या हुआ?" वह क्रोधित होकर बोला, "आपका मुँह देखने से नरक मिलता है।" आचार्य ने पूछा, "अगर कोई आपका मुँह देख ले, तो उसे क्या



मिलेगा?'' महाजन घमंड से बोला, ''स्वर्ग!'' आचार्य ने मुस्कुराते हुए कहा, ''मैं तो यह नहीं मानता कि किसी का मुँह देखने मात्र से कोई स्वर्ग या नरक में जाता है किंतु आपका अगर यही मत है, तो ठीक है। आपके मतानुसार, चूँकि मैंने आपका मुँह देखा है, इसलिए मेरा स्वर्ग जाना पक्का हो गया। आप अपनी सोच लें।''

सामनेवाले को उसी के तर्क से परास्त करने की कला में आचार्य भिक्षु सिद्धहस्त थे।

एक दिन किसी ने कहा, ''भीखणजी, लोग आपके चरित्र में बहुत दोष निकालते हैं।'' आचार्य भिक्षु ने तत्काल कहा, ''यह तो अच्छी बात है। दोष निकाल ही रहे हैं, डाल तो नहीं रहे। मेरा स्वयं का लक्ष्य दोषों को निकाल फेंकना है। कुछ वे निकाल रहे हैं, कुछ मैं निकालूँगा। काम जल्दी हो जाएगा। वे मेरा उपकार ही कर रहे हैं!''

आचार्य भिक्षु तो राग-विराग, माया-मोह तथा सुख-दुख के भावों से बहुत ऊपर उठ चुके थे, फिर उन्हें क्लेश किस बात का होता! वे तो सदा समभाव में अवस्थित रहते थे और यह परिणाम था जिन-वाणी की एकांत आराधना करते हुए, उसमें अपने आपको विलीन कर देने का। उनका सर्वस्व जिन-वाणी थी, उसके परे उनके लिए कुछ भी धर्म नहीं था, कुछ भी करने योग्य नहीं था। जिस कर्म या आचरण के लिए जिन-वाणी आज्ञा नहीं देती, वह अधर्म है—ऐसा उन्होंने जीवनपर्यंत माना, उसे कठोरतापूर्वक अपने आचरण में उतारा और उसका संदेश जन-जन तक पहुँचाया।

आचार्य भिक्षु की आचारनिष्ठा के समक्ष उनके कट्टर विरोधी भी नतमस्तक होते थे। इसका एक अच्छा उदाहरण अमरसिंहजी के टोले के वृद्ध मुनि बोहतजी के कथन में मिलता है। एक बार एक व्यक्ति उनसे तत्कालीन साधु-[illegible] कर



था। बातों-बातों में उसने बोहतजी से पूछा, "आप शीतलजी के टोले में साधुता मानते हैं या नहीं?"

प्रश्न दुविधा में डालनेवाला था, क्योंकि सकारात्मक उत्तर देते, तो वह सत्य न होता और नकारात्मक उत्तर देने में निंदा-दोष लगने का भय था। फिर भी उन्होंने सत्य कहना ही उचित समझा। बोले, "उनमें कहाँ से मानूँगा। मैं तो अपने में भी नहीं मानता।"

बोहतजी का उत्तर उस व्यक्ति की अपेक्षा के अनुरूप ही था। कुछ पल चुप रहकर उसने फिर पूछा, "और भीखणजी में?"

इस बार बोहतजी ने उसकी आशा के विपरीत कहा, "वे तो साध्वाचार के प्रति बड़े सावधान हैं, अतः उनमें संभावना की जा सकती है।

सत्य के प्रति अडिग आस्था और अभय आचार्य भिक्षु की संयममय साधना की अमूल्य उपलब्धि थी।

अलब्धेऽप्याहारे सुमतिरचलन्नो क्षणमपि,
न लब्धं सुस्थानं तदपि पथि नीते स्थिरमतिः।
न कष्टं तत्कष्टं भवति यदि चित् स्पष्टमुदिता,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे॥

शब्दार्थ :

अलब्धेऽप्याहारे- आहार की प्राप्ति न होने पर भी। सुमतिरचलन्नो- सुबुद्धि चलित न हुई। क्षणमपि- एक पल के लिए भी। न-नहीं। लब्धं-प्राप्त हुआ। सुस्थानं- अच्छा स्थान। तदपि-तो भी। पथि-मार्ग में। नीते-स्वीकृत। स्थिरमतिः-स्थिर मति। न- नहीं। कष्टं- दुःख। तत्कष्टं- वह दुःख। भवति-होता है। यदि-यदि। चित् - चित्त। स्पष्टमुदिता- स्पष्ट उदय हो जाता है। प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे- भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

भावानुवाद :

आहार न मिलने पर भी उनकी सुबुद्धि कभी क्षण भर के लिए भी विचलित नहीं हुई, रहने योग्य उत्तम स्थान नहीं मिला तो भी वे अपने स्वीकृत मार्ग पर अडिग रहे, क्योंकि वह कष्ट, कष्ट नहीं होता, जहाँ चेतना का स्पष्ट उदय हो जाता है। ऐसे प्रसन्नात्मा भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

अर्थ-संदर्भ :

अलब्धेऽप्याहारे क्षुमतिरचलन्नो क्षणमपि

स्थानकवासी संप्रदाय से संबंध-विच्छेद करके आचार्य भिक्षु धर्मक्रांति के मार्ग पर अग्रसर हुए, तो विरोधियों ने कोई गाँव ऐसा नहीं छोड़ा, जहाँ उनके विरुद्ध दुष्प्रचार न किया गया हो। उन्हें अविनीत कहा गया, धर्म के विरुद्ध आचरण करनेवाला कहा गया, और भी न जाने क्या-क्या कहा गया और ये बातें जनता के सामने इतनी बार दोहराई गईं कि वह इन्हें सच मानकर आचार्य भिक्षु से नफरत करने लगी। गाँव का कोई भी आदमी उन्हें भिक्षाचरी देने के लिए तैयार न होता। यहाँ तक हुआ कि जिस गाँव में आचार्य भिक्षु जाते, वहाँ समाज के प्रमुखों द्वारा पहले ही ढिंढोरा पिटवा दिया जाता कि जो भीखणजी को रोटी देगा, उसे दंड भुगतना पड़ेगा। बीलाड़ा में उनके साथ ऐसा ही हुआ। वहाँ अगर कोई गृहस्थ उन्हें रोटी देना भी चाहता, तो दंड के भय से नहीं दे पाता था। नतीजा यह कि घी-दूध और मिष्टान्न वगैरह तो दूर की बात है, रूखी-सूखी रोटियाँ तक उन्हें भरपेट नसीब नहीं हुईं।

विरोधियों की धारणा थी कि इन प्रतिबंधों के फलस्वरूप आहार-पानी की समस्या से घबराकर ये लोग यहाँ से कूच कर जाएँगे। दूसरी जगह जहाँ जाएँगे, वहाँ भी जब ऐसी ही स्थिति का सामना करना पड़ेगा, तो अपने किए पर पश्चात्ताप करने को विवश होंगे। लेकिन हुआ उनकी सोच के ठीक विपरीत। आचार्य भिक्षु ने सोचा कि हम गृहस्थजनों से कटे हुए हैं, उनके साथ विचार-विनिमय नहीं करते, इसीलिए उनके मन में हमारे प्रति द्वेष है। यदि हम उनके साथ संपर्क बढ़ाएँ तो उन्हें हमारे विचारों को समझने का मौका मिलेगा और तब उनका द्वेषभाव अपने-आप समाप्त हो जाएगा। यह विचार मन में आते ही उन्होंने संतों को बुलाकर कहा, "यह पूरा महीना बीलाड़ा

में ही व्यतीत करने की प्रेरणा हो रही है।"

"लेकिन यहाँ तो आहार-पानी की भयानक समस्या है। ऐसी स्थिति में यहाँ एक महीने तक रहना क्या संभव है?"

आचार्य भिक्षु बोले, "असंभव कुछ भी नहीं होता। अभी तक हम केवल जैन परिवारों और उनमें भी महाजनों के भरोसे रहे हैं। अब हमें जैन-अजैन सभी से संपर्क साधना होगा। इससे हमारे विचारों का प्रचार तो होगा ही, गोचरी का क्षेत्र भी व्यापक हो जाएगा। फिर भी यदि आहार-पानी की कमी रहती है, तो कष्ट सहने की शक्ति को और प्रखर बनाओ।"

संतों ने आचार्य भिक्षु के आदेश को शिरोधार्य किया और तीन वर्गों में गोचरी के लिए जाने लगे। एक गोचरी गाँव में बसनेवाली खाती, कुम्हार, जाट आदि जातियों के घरों में तो दूसरी सेवगों के परिवारों में और तीसरी महाजनों के आवास में। इससे आहार-पानी की समस्या पूरी तरह तो हल नहीं हुई, लेकिन सामुदायिकता का भाव बढ़ाने में सफलता जरूर मिली और साथ ही यह कि एक मास तक वहाँ इन स्थितियों में रहने से संतों की कष्ट-सहिष्णुता बढ़ी, जो आत्मशुद्धि का आवश्यक तत्त्व है।



धर्मक्रांति का शंखनाद करने के बाद पाँच साल तक यही स्थिति रही, किंतु भीखणजी कष्टों से घबराकर अपने लक्ष्य से विरत नहीं हुए। उन्होंने समभाव की ऐसी साधना कर ली थी कि अभावों में भी उन्हें भाव की अनुभूति होती थी।

एक बार जब वे पाली में विराज रहे थे, तो किसी ने उन्हें चिढ़ाने के लिए व्यंग में पूछ लिया, "क्यों भीखणजी, गोचरी में घृत आदि भी कभी आता है या नहीं?" तो आचार्य भिक्षु ने सहज मस्ती में कहा, "पाली के बाजार में बिकता तो प्रतिदिन देखते ही हैं!"

लेकिन यह कहानी शुरू के पाँच वर्षों की ही नहीं है। ये वर्ष तो खास तौर पर कष्टों के थे, बाद के वर्षों में भी ऐसी घटनाएँ होती ही रहीं।

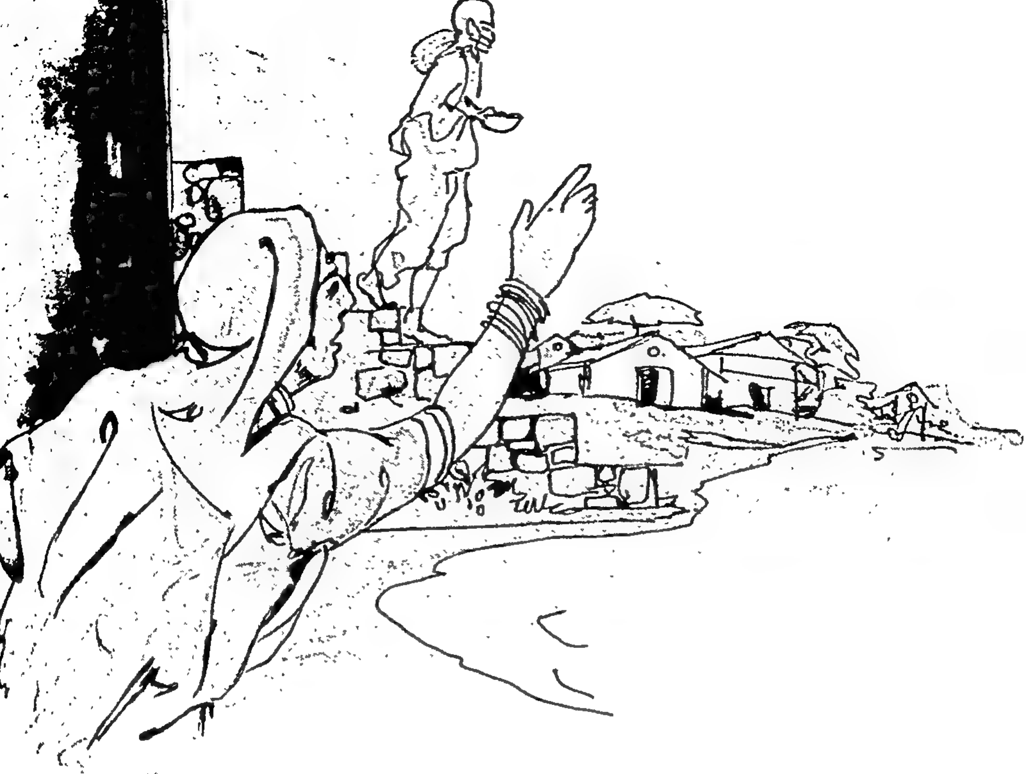
स्वर्गवास से लगभग चार वर्ष पहले आचार्य भिक्षु नाथद्वारा पधारे। उस समय उनके साथ काफी साधु-साध्वियाँ थीं। एक दिन साध्वियाँ किसी के घर में गोचरी के लिए गईं। वहाँ उन्हें घी दिया गया। दूसरे घर में गईं, तो वहाँ गृहस्वामिनी ने 'घाट' लेने को कहा। साध्वियों



ने घी वाले पात्र में ही 'घाट' भी ले ली। अभी उन्होंने पात्र झोली में रखा भी नहीं था कि गृहस्वामिनी ने पूछा, "आप कौन-से टोले की हैं?" एक साध्वी ने सहज भाव से कहा, "हम तो भीखणजी के टोले की हैं।" यह सुनते ही गृहस्वामिनी का पारा चढ़ गया। चीखते हुए उसने अभद्र भाषा में आरोप लगाया, "अरी रंडियो, तुम पिछली बार भी मुझे भुलावे में रखकर मेरे घर से आहार ले गई थीं, अब फिर आ गईं। दे दो मेरी 'घाट' वापस।" और आव देखा न ताव, साध्वी के हाथ से पात्र छीनकर 'घाट' को घृत सहित अपने पात्र में उँडेल लिया!

उसकी एक पड़ोसिन यह सब देख रही थी। उसने कहा, "कीकी, यह क्या कर रही हो? संन्यासी को दिया हुआ कभी कोई वापस लेता है?" कीकी जल-भुनकर बोली, "यह भोजन मैं कुत्तों को डाल दूँगी, किंतु इन्हें नहीं दूँगी।"

नाथद्वारा की ही एक और घटना है। मुनि हेमराजजी मोहनगढ़ नामक मुहल्ले में गोचरी के लिए गए और एक घर में आहार-पानी की एषणा की, तो गृहस्वामिनी ने कहा कि रोटियाँ तो नमक पर पड़ी हैं। बहन की मुखमुद्रा और उसके कहने के ढंग से हेमराजजी समझ गए कि रोटियाँ वास्तव में नमक पर नहीं पड़ी हैं बल्कि यह न देने का एक बहाना है। लेकिन वे कर भी क्या सकते थे। अब इसके साथ बहस करने का कोई फायदा नहीं है, यह सोचकर वे उसी घर की ऊपरवाली मंजिल में चले गए, जहाँ एक और परिवार रहता था। एषणा करने पर उस घर की स्त्री ने हेमराजजी को बहुत जली-कटी सुनाई, किंतु अंत में आहार दे दिया। ऊपर कहा-सुनी में अधिक समय लगा, तो नीचेवाली बहन ने इसका यह मतलब लगाया कि वहाँ देरी किसी विषय पर चर्चा छिड़ जाने के कारण हुई है और ये



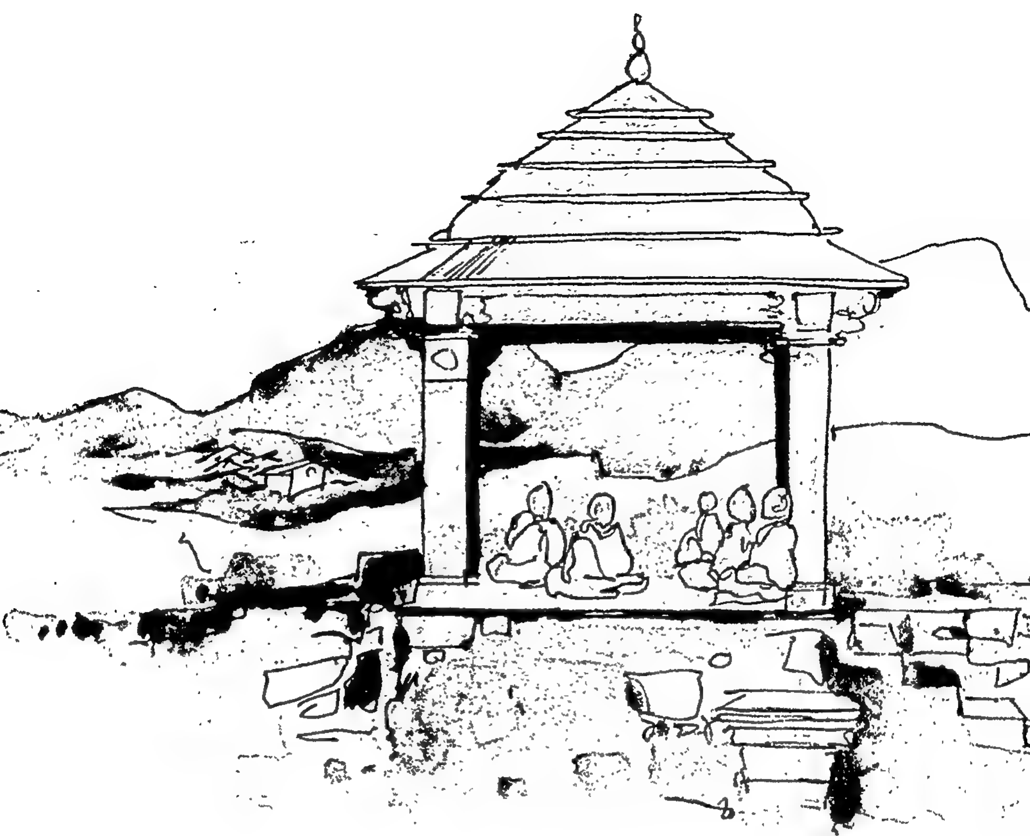
हमारे ही टोले के साधु हैं, मैंने भूल से इन्हें तेरापंथी समझ लिया था। फलतः मुनि हेमराजजी सीढ़ियाँ उतरकर बाहर जाने लगे तो उसने उन्हें पुकारा और पास आने पर बताया कि आहार नमक पर नहीं था, वह तो मैंने आपको तेरापंथी समझकर बहाना बनाया था। मुनि हेमराजजी ने मुस्कुराते हुए कहा, ''बहन, मैं हूँ तो तेरापंथी साधु ही। आहार तुम्हारी इच्छा हो तो दो और इच्छा न हो तो मत दो।''

यह सुनकर बहन बड़े असमंजस में पड़ गई। आखिर लज्जित होते हुए उसने बहुत बेमन से आहार दिया।

इन सब घटनाओं से पता चलता है कि आचार्य भिक्षु के प्रति विद्वेष का कैसा जहर लोगों के मन में भर दिया गया था और साधना के मार्ग में उन्हें कैसे-कैसे कष्ट सहने पड़े। किंतु यह आचार्य ही थे, जो सारे कष्टों को समभाव से सहते हुए अपने लक्ष्य पल के लिए भी विरत नहीं हुए।

आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी संप्रदाय से पृथक् होने की घोषणा बगड़ी नामक नगर में की थी और घोषणा करते ही उन्हें आवास की विकट समस्या का सामना करना पड़ा। आचार्य रुघनाथजी ने सारे शहर में ढिंढोरा पिटवा दिया, "कोई भी व्यक्ति भीखणजी को ठहरने के लिए स्थान सुलभ न कराए। यह संघ की 'आण' है। यदि कोई स्थान देगा, तो संघ उसे आज्ञा-भंग का दोषी मानकर दंडित करेगा।" परिणामतः बहुत खोज करने पर भी आचार्य भिक्षु को रहवास नहीं मिला, दंड के भय से कोई व्यक्ति उन्हें स्थान देने को तैयार नहीं हुआ। यह वास्तव में आचार्य रुघनाथजी की चाल थी। उनका खयाल था कि रहने की जगह न मिलने पर भीखणजी स्थानक में





वापस लौट आने को विवश होंगे। किंतु आचार्य भिक्षु तो सम्यक् चारित्र की साधना के पथ पर निकले थे और उनका संकल्प इस्पात की भाँति ठोस एवं दृढ़ था। स्थानक में वापस जाने की बात वे सोच भी नहीं सकते थे। फलतः उन्होंने किसी दूसरे गाँव में जाने का निश्चय कर लिया।

अन्यत्र जाने के लिए आचार्य भिक्षु विहार करके नगर के बाहर तक ही पहुँचे थे कि जोर से आँधी चलने लगी। ऐसे समय में विहार करना जैन साधु के लिए अकल्प्य है। अतः दृढ़मना आचार्य भिक्षु पार्श्व में स्थित श्मशान भूमि में बनी जैतसिंह की छतरी में ठहर गए और रात्रि वहीं व्यतीत की।

आचार्य भिक्षु धर्म-क्रांति की पताका फहराते चल रहे थे, तो आचार्य रुघनाथजी उनका मार्ग कंटकाकीर्ण करने पर कटिवद्ध थे। विहार करते हुए आचार्य भिक्षु चातुर्मास व्यतीत करने के लिए केलवा पधारे, तो वहाँ उन्हें एक जैन मंदिर की घोर अँधेरी कोठरी में रहना पड़ा।

अपने विरुद्ध दुष्प्रचार के चलते ही आचार्य भिक्षु को पाली में स्थान परिवर्तन करना पड़ा था। वहाँ वे चातुर्मास के लिए पधारे थे। गृहस्वामी से आज्ञा लेकर एक हाट में ठहरे, तो रुघनाथजी स्वयं गृहस्वामी के घर गए और वे नहीं मिले, तो उनकी स्त्री को बरगलाने लगे। बोले, ''जिसको तुमने हाट में ठहराया है, वह कार्तिक सुदी पूर्णिमा तक नहीं जाएगा।'' वह स्त्री उनके बहकावे में आ गई और आचार्य भिक्षु के पास जाकर बोली, ''आपको यहाँ ठहरने की मेरी आज्ञा नहीं है।'' आचार्य भिक्षु सारी बात ताड़ गए



और बोले, "चातुर्मास में भी जब कहोगी, हम चले जाएँगे।" बहन बोली, "आप जैसे ही एक साधु हमें कह गए हैं कि चातुर्मास शुरू होने के बाद चार महीनों तक आप यहाँ से नहीं जाएँगे। अतः मेरी आज्ञा नहीं है।"

आचार्य भिक्षु ने सहज भाव से वह स्थान छोड़ दिया और खोजबीन करने पर उन्हें उदयपुरिया बाजार में एक दुकान की ऊपरी मंजिल मिल गई। दिन में ऊपर रहते और रात को नीचे बाजार में प्रवचन करते। केंद्रीय स्थान होने से वहाँ काफी धर्मप्रेमी जुटने लगे। यह देखकर विरोधी लोग विद्वेषाग्नि में जलने लगे। उन्होंने आचार्य भिक्षु से दुकान खाली करवाने के लिए गृहस्वामी पर काफी दबाव डाला, पर गृहस्वामी टस-से-मस नहीं हुआ। उसने साफ शब्दों में कहा, "कार्तिक सुदी पूर्णिमा तक तो मैं भीखणजी से वचनबद्ध हूँ, अतः किसी भी स्थिति में उन्हें निषेध नहीं करूँगा। उसके पश्चात वे स्वयं ही नहीं ठहरेंगे।"

आचार्य भिक्षु के विरोधियों की संख्या कम नहीं थी। उनमें मूर्तिपूजक आम्नाय के बावेचा भी शामिल थे। वे लोग भी आचार्य भिक्षु के प्रति विद्वेषाग्नि में जल रहे थे। वे नहीं चाहते थे कि उनका चातुर्मास सफलतापूर्वक संपन्न हो। अतः पहले उन्होंने आचार्य भिक्षु के व्याख्यान में भाँति-भाँति के व्यवधान डालने की कोशिश की। जब अपनी इन कोशिशों में वे सफल नहीं हुए, तो उन्होंने आचार्य भिक्षु को दुकान से निकलवाने की योजना बनाई और गृहस्वामी के पास जाकर कहा, "हमें एक दुकान की आवश्यकता है। तुम अपनी यह दुकान दे दो, तो हम बाजार भाव से दुगुना किराया देंगे।" गृहस्वामी ने कहा, "अभी तो वहाँ स्वामीजी ठहरे हुए हैं, अतः तुम पूरी दुकान को रुपयों से मढ़ दो, तो भी नहीं दूँगा। चातुर्मास समाप्त होने पर जब वे विहार कर दें, तब भले ही ले लेना।"

गृहस्वामी से मुँह की खाने के बाद बावेचों ने आचार्य भिक्षु को पाली से ही निकलवा देने की योजना बनाई। वे सब इकट्ठे होकर नगर के हाकिम जेठमलजी के पास गए और अपने मकानों तथा दुकानों की चाबियाँ उनके सामने रखकर बोले, ''इन्हें सँभालिए!'' जेठमलजी कुछ समझ नहीं पाए कि माजरा क्या है। वे कुछ पूछते, उससे पहले ही बावेचों के प्रमुख ने कहा, ''अब हमारा यहाँ रहना संभव नहीं है।'' जेठमलजी ने पूछा, ''आखिर क्यों? बात क्या हुई?'' तो बावेचों ने कहा, ''पाली में या तो भीखणजी रहेंगे या हम रहेंगे। आप किसे चाहते हैं, यह तय करना आपका काम है।''

बावेचों ने सोचा था कि जेठमलजी हमारी नगर छोड़ने की धमकी से परेशान होकर भीखणजी को नगर से निष्कासित कर देंगे, मगर



हुआ उल्टा। जेठमलजी ने कहा, "भीखणजी जैसे पुण्यात्मा को निष्कासित करने का दुष्कर्म मैं नहीं कर सकता। नगर में तो वेश्या तथा कसाई जैसे पापिष्ठ भी रहते हैं। उन्हें भी जब नहीं निकाला जाता, तो भीखणजी को कैसे निकाला जा सकता है। आप लोग यहाँ से जाना चाहते हैं, तो जाएँ। आप लोगों की मर्जी।"

फिर बावेचों को ईंट का जवाब पत्थर से देते हुए उन्होंने कहा, "कुछ साल पहले की बात है। जोधपुर राज्य में मोती नामक एक बनजारा आया करता था। वह बाहर से लाया हुआ माल वहाँ बेचता और वहाँ से नमक ले जाता था। व्यापारिक माल ढोने के लिए उसके पास बहुत सारे बैल थे। वह जिस मार्ग से आता, उस मार्ग के खेत बैलों द्वारा रौंद दिए जाते थे। किसानों ने जोधपुर-नरेश विजयसिंहजी के पास उसकी शिकायत की। नरेश ने मोती को बुलाकर कहा, 'खेतों को बचाकर आया-जाया करो।' लेकिन अपनी व्यापारिक शक्ति के नशे में चूर मोती ने कहा, 'मैं आऊँगा, तो यह होगा ही।' नरेश ने क्रोधित होकर कहा, 'यह होगा ही, तो फिर मेरे राज्य में आने की जरूरत नहीं है। हमारे यहाँ नमक है, तो उसके ग्राहक अन्य व्यापारी आते रहेंगे। व्यापार के नाम पर तुम्हें अन्याय करने की छूट नहीं दी जा सकती।' मोती अपना-सा मुँह लेकर रह गया।"

यह घटना सुनाकर जेठमलजी ने बावेचों से कहा, "मोती चला गया, तो जोधपुर राज्य का कुछ नहीं बिगड़ा, स्वयं मोती का ही व्यापार चौपट हो गया। आप लोग चले जाएँगे, तो नुकसान आपके ही व्यापार का होगा। हम तो यहाँ दूसरे व्यापारियों को ला बसाएँगे।"

जेठमलजी की दृढ़ता के सामने बावेचों की एक न चली। वे पराजित हो गए और अन्यमनस्क भाव से अपनी चाबियाँ उठाकर वहाँ से खिसक लिए।

न कष्टं तत्कष्टं भवति यदि चित् स्पष्टमुदिता

कष्ट का अनुभव तभी तक होता है, जब तक ममत्व का भाव रहता है। ममत्व का भाव तब तक रहता है, जब तक आत्मशुद्धि नहीं होती। आत्मशुद्धि तब तक नहीं होती, जब तक सत्य की साधना नहीं की जाती। सत्य की साधना में लीन व्यक्ति चेतना के उच्च धरातल पर विहार करने लगता है, वही चेतना का जागरण है।

आचार्य भिक्षु ने मृत्यु का आभास होने पर साधुओं को एकत्र कर कहा था, " मन में मोह न करना। ... तुम लोगों से मेरा यही कहना है कि स्थिर चित्त रखकर भगवान के मार्ग का अनुसरण करना। कुमति और कदाग्रह को छोड़कर सदा आत्मा को उज्ज्वल-निर्मल करना, शुद्धाचार की आराधना में रत्तीभर भी मत चूकना। पाँच समितियों, तीन गुप्तियों और पाँच महाव्रतों का पूर्ण सावधानी से पालन करना। शिष्य-शिष्याओं तथा वस्त्रादि वस्तुओं पर जरा भी ममता अथवा मूर्च्छा भाव न रखना, प्रमाद को सदा दूर करना, संयम में शुद्ध मन से अनुरक्त रहना। भौतिक आसक्तियों को तन-मन से दूर करना।"

इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति के लिए सांसारिक पदार्थ नगण्य हो जाते हैं और जब सांसारिक पदार्थ ही नगण्य हो गए, तो फिर कष्ट कैसा! फिर तो अभाव में भाव की अनुभूति होने लगती है, जिसका जीवंत उदाहरण है आचार्य भिक्षु का जीवन। पिछले श्लोकों की व्याख्या में अनेक प्रसंगों तथा घटनाओं की चर्चा है, जिनसे पता चलता है कि आचार्य भिक्षु किस तरह अभावों में भावों की सृष्टि कर लेते थे। यहाँ एक द्रष्टांत प्रासंगिक है:



आचार्य भिक्षु पुर से भीलवाड़ा जा रहे थे। उन्होंने बीच में एक जगह विश्राम लिया। वहाँ उन्हें ढूँढाड़ का एक आदमी मिला। वंदन करने के बाद उसने पूछा, ''आपका नाम क्या है?'' आचार्य भिक्षु ने कहा, ''मेरा नाम भीखण है।'' वह बोला, ''आपका नाम तो बहुत सुना है, महिमा भी बहुत सुनी है, किंतु आप तो यहाँ अकेले पेड़ के नीचे बैठे हैं। मेरी कल्पना थी कि आपके पास बहुत आडंबर होगा— हाथी, घोड़े, रथ और पालकियाँ होंगी, पर ऐसा कुछ नहीं देखता हूँ।''

आचार्य भिक्षु बोले, ''महिमा इसीलिए तो है कि पास में ऐसा आडंबर नहीं है। साधु का मार्ग ऐसा ही है।''

सदा स्वच्छो भावो जिनवचनभावैरपमलः,
कृतादर्शा प्रज्ञा मतिविभवमाक्रम्य सुगता।
न चेर्ष्या नो निन्दा गहनतमनिष्ठा स्वचरिते,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे ॥

शब्दार्थ :

सदा -सदैव। स्वच्छो- स्वच्छ। भावो-भावना। जिनवचनभावैरपमलः- जिन-वचनों के भावों से मल रहित होकर। कृतादर्शा-आदर्श से युक्त। प्रज्ञा-प्रज्ञा। मतिविभवमाक्रम्य- बुद्धि-वैभव को लांघकर। सुगता-प्राप्त हुई। न-न। चेर्ष्या - और ईर्ष्या। नो- न। निन्दा-आलोचना(बुराई)। गहनतमनिष्ठा -अगाध निष्ठा। स्वचरिते-स्वयं के चरित्र में। प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे- भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

भावानुवाद :

जिन-वचन (अर्हत वचन) से भावित उनके भाव मल रहित होकर सदैव स्वच्छ रहे। बुद्धि-वैभव को लांघकर उनकी प्रज्ञा आदर्शयुक्त हो गई। (उन्होंने) न किसी से ईर्ष्या की और न किसी की निंदा की। स्वयं के चरित्र में उनकी अगाध निष्ठा थी। ऐसे प्रसन्नात्मा भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

अर्थ संदर्भ :

सदा स्वच्छो भावो जिनवचनभावैरपमल:

जिन-वाणी के प्रति आचार्य भिक्षु की आस्था उनके इस कथन में मुखरित होती है : "जो सांसारिक उपकार हैं, वे मोहवश किए जाते हैं। सांसारिक जीव उनकी प्रशंसा करते हैं, मगर साधु उनकी सराहना नहीं करते। इन सांसारिक उपकारों में जिन-धर्म (समता धर्म) का अंश भी नहीं है। जो इसमें धर्म बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं।" इस धार्मिक लक्ष्य की व्याख्या करते हुए वे आगे कहते हैं, "जो व्यक्ति किसी जीव को मृत्यु से बचाता है, उसके साथ उसका स्नेह का बंधन बन जाता है और यह स्नेह का बंधन जन्म-जन्मांतर तक पीछा नहीं छोड़ता। इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी जीव को मारता है, उसके साथ उसका द्वेष का बंधन हो जाता है और यह द्वेष का बंधन भी जन्म-जन्मांतर तक पीछा नहीं छोड़ता— मित्र के साथ मित्रता और शत्रु के साथ शत्रुता चलती रहती है। जिन-वाणी के अनुसार ये दोनों राग-द्वेष के भाव हैं, जिनसे ऊपर उठना ही धर्म है।"

एक बार कुछ दिगंबर जैन साधु आचार्य भिक्षु के पास आकर कहने लगे, "भीखणजी! आपके विचार बहुत उच्च कोटि के हैं, साथ ही आपका आचरण भी बहुत निर्मल है। बस, एक ही कमी है कि आप वस्त्र धारण करते हैं। यदि आप दिगंबर बन जाएं तो हम आपको गुरु मान सकते हैं।"

आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया, "हमें श्वेतांबर शास्त्रों पर पूरा विश्वास है और उन पर विश्वास रखकर ही हमने घर-संसार छोड़ा है। वे शास्त्र साधु को एक निश्चित माप का कपड़ा धारण करने की

अनुमति देते हैं, इसलिए हम वस्त्र धारण करते हैं। जिस दिन हमारा विश्वास इन शास्त्रों पर से हट जाएगा, उस दिन से हम वस्त्र धारण करना छोड़ देंगे।''

भिक्षु स्वामी की अपने आदर्श के प्रति ऐसी दृढ़ आस्था देखकर दिगंबर साधु निरुत्तर हो गए।

जिन-वाणी के प्रति अपनी अटूट आस्था के बल पर ही आचार्य भिक्षु ने राजनगर में अपने गुरु आचार्य रुघनाथजी का नहीं, श्रावकों का पक्ष लिया था, क्योंकि आगमों का अध्ययन करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि उनका पक्ष ही सत्य है। इसके फलस्वरूप उन्हें अपार कष्टों का सामना करना पड़ा, किंतु वे तमाम कष्टों को सहते और बाधाओं को पार करते हुए अपने निर्दिष्ट पथ पर आगे बढ़ते रहे। ऐसा वही व्यक्ति कर सकता है, जिसकी आत्मा पवित्र व निर्मल हो और जो सत्य के पालन में तत्पर रहता हो। आचार्य भिक्षु की आत्मा पवित्र व निर्मल थी और वे सत्य के पालन में सदैव तत्पर रहते थे। सत्य को उन्होंने निर्भीक होकर कहा, इसका एक अत्यंत ओजस्वी प्रमाण उनके जीवन में मिलता है।

आचार्य भिक्षु भगवान् महावीर को अपना सर्वस्व मानते थे। एक बार किसी ने उनसे पूछा कि आप इतने लोकप्रिय क्यों है ? आचार्य भिक्षु ने इसका उत्तर एक द्रष्टांत के माध्यम से दिया। बोले : ''एक पतिव्रता स्त्री का पति परदेस गया हुआ था। बहुत समय हो गया, न उसका पति वापस आया और न ही उसका कोई संदेश उसे मिला। अचानक एक दिन एक पथिक से उसकी भेंट हो गई, वह उसी स्थान से आ रहा था, जहाँ उसका पति रहता था। पथिक ने उस स्त्री को उसके पति का कुशल समाचार सुनाया, तो वह स्त्री बहुत हर्षित हुई।



उसके लिए वह पथिक अत्यंत प्रिय हो गया और उसने पथिक का खूब आदर-सत्कार किया।"

यह द्रष्टांत सुनाकर आचार्य ने कहा, "हम तो भगवान् महावीर के संदेशवाहक हैं। जनता भगवान् की वाणी सुनने को आतुर रहती है, तो हम उसे उनकी वह वाणी सुना देते हैं और इस प्रकार हम जनता के प्रिय हो जाते हैं। इसमें हमारी कोई विशेषता नहीं है, जो विशेषता है वह भगवान् महावीर की है।"

भगवान् महावीर को इस तरह अपना सर्वस्व मानने और स्वंय को उनका संदेशवाहक मात्र बताने के बावजूद आचार्य भिक्षु ने एक स्थान पर उनकी भी समीक्षा करने में संकोच नहीं किया।

भगवान् का एक झगड़ालू प्रकृति का शिष्य था, जिसका नाम था

गोशालक। उसने एक बार किसी बात को लेकर वैशंपायन ऋषि को बहुत अपमानित किया। ऋषि क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने उस पर उष्ण तेजोलेश्या (जिससे शरीर में भयंकर जलन होती है और वह भस्म हो जाता है) नामक योगशक्ति का प्रहार किया, तो भगवान् ने उसे बचाने के लिए शीत तेजोलेश्या (उस ज्वाला को शान्त कर देनेवाली) नामक योगशक्ति का प्रयोग किया और गोशालक बच गया। आचार्य भिक्षु की दृष्टि में भगवान् का यह कार्य मोहजनित था। इसलिए उन्होंने लिखा , "इस प्रसंग में भगवान् की वीतराग-भावना में चूक हुई है।"

आचार्य भिक्षु के इस वाक्य को पढ़कर मुनि भारमलजी ने कहा, "गुरुदेव! इसमें तो भगवान् की आलोचना है। इस पर विवाद खड़ा हो सकता है। इसे बदल दें, तो अच्छा रहे।"

आचार्य भिक्षु बोले, "वाक्य विवाद खड़ा करनेवाला भले ही हो, किंतु तुम बताओ कि यह सत्य है या असत्य?"

भारमलजी ने कहा, "है तो बिल्कुल सत्य!"

"फिर विवाद से क्या डरना! सत्य के मार्ग पर चलनेवाले को निर्भय होना चाहिए।" आचार्य भिक्षु का दोटूक उत्तर था।

आचार्य भिक्षु की यह अभय वाणी सत्य के प्रति उनकी गहनतम निष्ठा को उजागर करती है। इस प्रसंग में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन याद आता है। अपने उपन्यास *बाणभट्ट की आत्मकथा* में उन्होंने लिखा है : "सत्य के लिए किसी से न डरना। गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।"

कई बार बातें बहुत छोटी होती हैं, किंतु उनके फलितार्थ बहुत गूढ़ होते हैं। आचार्य भिक्षु असत्य के विरोधी थे—न वे स्वयं

करते थे। उनकी दृष्टि में सत्य को छुपाना भी असत्य-कथन के बराबर था। प्रसंग उस समय का है जब वे आचार्य रुघनाथजी के स्थानकवासी संप्रदाय में ही थे।

एक दिन मुनि भीखणजी किसी दर्जी के घर गोचरी (भिक्षा) के लिए गए। वह भाई साधुओं का सत्संग करता रहता था, अतः उसे इस बात की जानकारी थी कि एक साधु के लिए क्या करने योग्य है और क्या नहीं। शास्त्र के अनुसार, एक दिन पहले अगर किसी



गृहस्थ के घर गोचरी हुई है, तो दूसरे दिन वहाँ साधु की गोचरी उचित नहीं है। यही सोचकर उसने भीखणजी से कहा, "कल आपका एक शिष्य गुड़ ले गया था, अतः आज मेरे यहाँ गोचरी शास्त्रसम्मत नहीं है।"

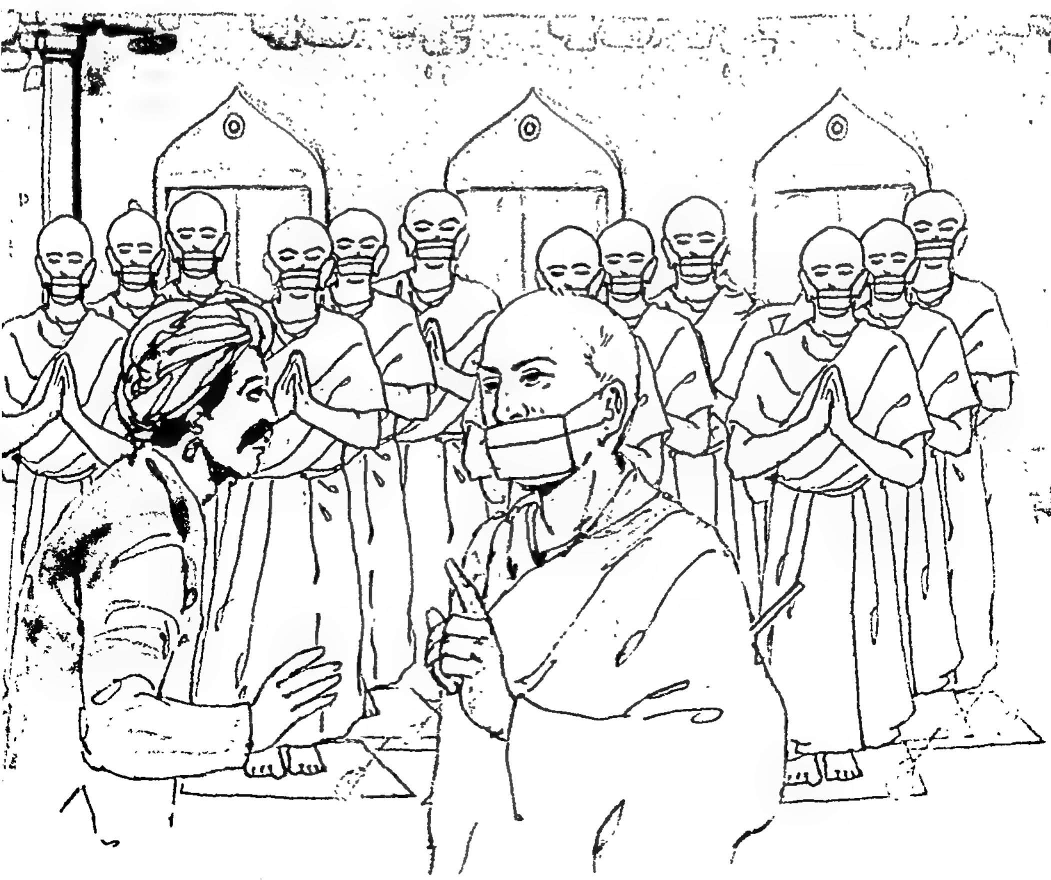
भीखणजी ने स्थानक पर आकर संतों से पूछा कि कल दर्जी के यहाँ से गुड़ कौन लाया था, पर किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। यह बात भीखणजी को बहुत बुरी लगी कि इतने छोटे-से सत्य को कहने का भी जिसमें साहस नहीं है, वह साधुता कैसे पाल सकता है। उन्होंने झूठ को प्रकट कराने का निश्चय कर लिया। संध्या के समय वे सब साधुओं को साथ लेकर दर्जी के घर गए और उससे पूछा कि कल जो साधु गुड़ ले गया था, उसे पहचानो। दर्जी ने एक बालक साधु की ओर संकेत कर दिया और इस तरह प्रकट हो गया कि वह बालक ही गुड़ लाया था। भीखणजी को उसे कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं रही। वह बाल साधु स्वयं ही शर्मिंदा हो गया और आगे के लिए उसने इस तरह का आचरण न करने की प्रतिज्ञा ली।

यह थी भीखणजी की सत्य के प्रति निष्ठा।

कोरे बुद्धि-वैभव से आदर्श की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिए तो साधना करनी पड़ती है, अपने-आपको अनुभूति की आँच में तपाकर आदर्श में विलीन कर देना पड़ता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में कहा है : " पर-उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे।" दूसरों को उपदेश देनेवाले तो बहुत होते हैं, किंतु उस उपदेश को अपने आचरण में ढालनेवाले बिरले ही होते हैं। आचार्य भिक्षु उन्हीं बिरले लोगों में थे। वे जो उपदेश देते, उसे पहले अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करते थे। उनकी अनुशासनप्रियता व कठोर संयम भावना का जीवंत उदाहरण है उनकी वृद्धावस्था का एक प्रसंग :

वे प्रातः और सायं दोनों समय खड़े होकर प्रतिक्रमण किया करते



थे। इस पर किसी श्रावक ने एक बार उनसे कहा, "इस वृद्धावस्था में आप खड़े होकर प्रतिक्रमण क्यों करते हैं! बैठकर किया करें, उसमें आपको सहूलियत होगी।" आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया, "मैं अपने संघ का आचार्य हूँ। जैसा आचरण मैं करूँगा, उसी की नकल मेरे अनुयायी करेंगे। वृद्धावस्था के तर्क से अगर मैं अपने आचरण में शिथिलता लाऊँगा, तो मेरे अनुयायी उसके बहाने से और अधिक शिथिल हो जाएँगे। आज मैं बैठकर प्रतिक्रमण करूँ, तो कल हो सकता है कि वे लेटकर करने लगें। मैं खड़ा होकर प्रतिक्रमण करता हूँ, तो आशा की जा सकती है कि उनके आचरण में अगर ढील भी आई, तो वे कम-से-कम बैठकर तो किया करेंगे।"

काश! आज के नेता आचार्य भिक्षु की इस बात से कोई प्रेरणा ले सकते!

न चेर्ष्या नो निंदा गहनतम निष्ठा स्वचरिते

आचार्य भिक्षु कहा करते थे, "धर्म आत्मा की वस्तु है, उसका पालन अंतर्मन से होना चाहिए।" इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि "जिस प्रकार शस्त्र को उल्टा पकड़ने से वह शस्त्रधारी को ही चोट पहुँचाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म को ग्रहण करके उसके विरुद्ध आचरण करता है, वह दुर्गति को प्राप्त होता है।"

आचार्य भिक्षु ने निस्संदेह धर्म का पालन अंतर्मन से किया था। उनका आचरण कभी धर्म के विपरीत नहीं रहा, इसीलिए अपने ऊपर, अपने चारित्र्य पर उन्हें पूरा विश्वास था।

बात बहुत छोटी है, किंतु इस छोटी बात में ही आचार्य भिक्षु के चारित्र्य के और अपने उस चारित्र्य में उनके अगाध विश्वास के दर्शन होते हैं। प्रसंग इस प्रकार है :

एक बार आचार्य भिक्षु पादु नामक नगर में पधारे। साथ में मुनि हेमराज भी थे। उनकी सेवा में आए एक श्रावक ने बातों-बातों में मुनि हेमराज की तरफ़ इशारा कर कहा, "इनकी चद्दर शास्त्रसम्मत माप से बड़ी है।" आचार्य ने तुरंत मुनि हेमराज की चद्दर उतरवाई और उसकी लंबाई-चौड़ाई मापकर दिखा दी। वह उतनी ही थी, जितने माप की अनुमति शास्त्रों में दी गई है। यह देख श्रावक बहुत शर्मिंदा हुआ। तब आचार्य भिक्षु ने गंभीर होकर कहा, "क्या तुमने हम साधुओं को इतना नासमझ मान लिया है कि चार अंगुल कपड़े के लिए संयम जैसी सार-वस्तु को खो देंगे? तुम्हें हमारे ऊपर इतना भी विश्वास नहीं? हम तो गाँव-गाँव घूमते हैं। रास्ते में हमें कोई नहीं देखता। ऐसी स्थिति में हम कच्चा जल भी पी लें, तो किसी को क्या पता चलेगा? लेकिन कोई जाने या न जाने, हमें तो अपने धर्म का

पालन करना है। हम दिखावे के लिए धर्म का पालन नहीं करते। हमारी आत्मा ही हमारे सच्चे साधुत्व की साक्षी है। संतों के प्रति ऐसा अविश्वास भविष्य में न करना।''

आचार-व्यवहार के प्रति आचार्य भिक्षु बड़े दृढ़ थे। एक बार पाँच साध्वियों ने आचार्य भिक्षु की अनुमति से वस्त्र ग्रहण किया। उनके जाने के बाद आचार्य को संदेह हुआ कि वस्त्र आवश्यकता से अधिक ले लिया गया है। उन्होंने तुरंत पाँचों को वापस बुलाया और उनका लिया हुआ वस्त्र मापकर देखा। वह निर्दिष्ट माप से अधिक निकला। आचार्य की दृष्टि में यह अकल्प्य था। अतः उन्होंने यह सोचकर साध्वियों को संघ से बाहर कर दिया कि आज इस प्रवृत्ति को सख्ती से नहीं रोका गया, तो कल यह बड़ा रूप ले सकती है, जिसका बुरा प्रभाव दूसरों पर भी पडेगा।



चारित्र्य के प्रति ऐसी गहरी निष्ठा के फलस्वरूप ही वे ईर्ष्या और निंदा के भाव से ऊपर उठे हुए थे। किसी के लाख उकसाने पर भी उन्होंने व्यक्तिगत रूप से किसी की निंदा नहीं की। ढोंग और पाखंड पर, मिथ्या आचरण पर उनकी आलोचनाएँ तलवार की तेज धार के समान होती थीं, लेकिन किसी भी आलोचना में उन्होंने किसी व्यक्ति-विशेष का नाम कभी नहीं लिया।

किसी की व्यक्तिगत आलोचना को आचार्य भिक्षु कितना गलत मानते थे, इसका ज्वलंत उदाहरण रीयाँ और पीपाड़ के बीच मार्ग पर सामने आया। मुनि हेमराज उनके साथ थे। वहाँ एक दूसरे संप्रदाय का साधु उनसे मिला और उन्हें एकांत में ले जाकर काफी देर तक बात करता रहा। मुनि हेमराज की जिज्ञासा प्रबल हो उठी कि आखिर वह साधु आचार्य के साथ इतनी देर से क्या बातें कर रहा है? फलतः जैसे ही आचार्य भिक्षु लौटकर आए, मुनि हेमराज ने पूछा, " वह साधु क्या कह रहा था?" आचार्य ने एकदम संक्षिप्त उत्तर दिया, "आत्मालोचना कर रहा था।" मुनि हेमराज ने फिर पूछा, "कैसी आत्मालोचना?" आचार्य भिक्षु ने फिर वैसा ही संक्षिप्त उत्तर दिया, "किसी की आत्मालोचना दूसरे को बताने की शास्त्रों में मनाही है। इसलिए तुम्हारी यह जिज्ञासा उचित नहीं है।"

यह थी आचार्य भिक्षु की शास्त्रों के प्रति निष्ठा। भगवान् की वाणी है : "भिक्षु कानों से बहुत सुनता है, आँखों से बहुत देखता है, किंतु सब देखे और सुने को कहना उसके लिए उचित नहीं है।" आचार्य भिक्षु ने भगवान् की इस वाणी को अपने स्वभाव में आत्मसात् कर लिया था।

एक बार भीलवाड़ा में व्याख्यान देते हुए आचार्य भिक्षु ने शिथिलाचारी साधुओं के आचार-व्यवहार की कड़ी आलोचना की, जिससे वहाँ के नागोरी बंधुओं में बहुत तीव्र प्रतिक्रिया हुई। व्याख्यान की समाप्ति के बाद वे अड़ गए कि आचार्य भिक्षु उन साधुओं के नाम बताएँ, जिनके आचरण की उन्होंने आलोचना की है, किंतु आचार्य ने दृढ़ता के साथ किसी का नाम बताने से इनकार कर दिया और कहा, "मैं व्यक्ति-विशेष के लिए कुछ भी कहना नहीं चाहता। मैंने तो साध्वाचार और उसके दोषों की सामूहिक रूप से बात कही है। यदि आपको ऐसा कदाचार बुरा लगता है, तो अपने साधु-संतों को टटोलकर देख लीजिए कि वहाँ ऐसा होता है या नहीं। यदि होता है तो उसे सुधारने का यत्न कीजिए और यदि नहीं होता है तो इस प्रसंग में चिढ़ने जैसी कोई बात नहीं है।"

इसी प्रकार एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा, "आज साधु का वेश धारण करनेवालों की संख्या बहुत अधिक है। बताइए कि इस भीड़ में सच्चे कौन हैं और ढोंगी कौन ?"

पूछनेवाले का आशय स्पष्ट था। वह चाहता था कि आचार्य भिक्षु नाम लेकर बताएँ कि अमुक-अमुक ढोंगी हैं। किंतु किसी व्यक्ति-विशेष का नाम लेने से बात पर-निंदा का रूप ले लेती है और पर-निंदा आचार्य भिक्षु के स्वभाव में नहीं थी। इसलिए उत्तर उन्होंने एक द्रष्टांत के रूप में देते हुए कहा, "किसी वैद्य से एक नेत्रहीन व्यक्ति ने पूछा—इस नगर में नंगे कितने हैं और वस्त्र पहने हुए कितने ? वैद्य ने कहा—उनकी गिनती करना मेरा काम नहीं है। मैं औषधि के द्वारा तुम्हारी दृष्टि ठीक कर देता हूँ, फिर तुम स्वयं गिन लेना।" यह द्रष्टांत सुनाने के बाद आचार्य भिक्षु ने कहा, "नाम लेकर किसी के विषय में कुछ कहना मेरे लिए उचित नहीं है। मैं साधु के लक्षण बताकर तुम्हें दृष्टि प्रदान कर सकता हूँ, फिर साधु और असाधु के बारे में जाँच तुम स्वयं कर लेना।"



उपर्युक्त प्रश्न को एक अन्य प्रसंग में आचार्य भिक्षु ने दूसरी तरह समझाया था। उन्होंने कहा, "रुपए उधार लेकर जो व्यक्ति सम्मान सहित वापस चुका देता है, वह साहूकार होता है और जो नहीं चुकाता बल्कि माँगने पर झगड़ा भी करता है, वह दिवालिया होता है। इस लक्षण के आधार पर नगर के किसी भी व्यक्ति का परीक्षण किया जा सकता है। इसी तरह जो व्यक्ति अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूपी पाँच महाव्रतों को निष्ठापूर्वक पालता है, वह साधु होता है और जो उन्हें नहीं पालता, वह असाधु होता है। इस लक्षण के आधार पर तुम स्वयं निर्णय कर सकते हो कि कौन साधु है और कौन असाधु।" इस चारित्र्य का ही प्रभाव था कि आचार्य भिक्षु ईर्ष्या-द्वेष आदि प्रवृत्तियों से मुक्त थे।

आचार्य भिक्षु में मनुष्य की प्रकृति और उसका मूल्यांकन करने की अद्‌भुत क्षमता थी। उनकी प्रत्युत्पन्न मति का एक रोचक प्रसंग है। एक बार एक व्यक्ति उनके पास आया और पूछने लगा, "स्वामीजी, घोड़े के कितने पैर होते हैं ?" एक छोटे बच्चे की तरह आचार्य भिक्षु

ने गिनना शुरू किया -- एक .. दो .. तीन .. चार .., और इस प्रकार गिनती कर बोले, "हाँ, घोड़े के चार पैर होते हैं।" सुनकर वह व्यक्ति जो आचार्य भिक्षु को शर्मिंदा करने का मनसूबा बनाकर आया था, बोला, "घोड़े के पैर बताने में इतना सोचनेवाली कौन-सी बात थी, इसे तो कोई भी तुरंत ही बता सकता है।" आचार्य भिक्षु ने जवाब दिया, "भाई! कहते तो ठीक हो, किंतु यदि तुम दूसरा प्रश्न यह पूछते कि कनखजूरे के कितने पैर होते हैं, तो सोचना तो पड़ता न!"

आचार्य भिक्षु के इस उत्तर से चकित होकर वह व्यक्ति स्वयं ही शर्मिंदा होते हुए बोला, "स्वामीजी, मैं तो दूसरा प्रश्न यही पूछने वाला था!"

जैन-परंपरा में संघ की परिपूर्णता के लिए चार अंग आवश्यक माने गए हैं—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। लेकिन तेरापंथ के प्रारंभिक काल में संघ में कोई साध्वी नहीं थी और इस अर्थ में आचार्य भिक्षु का संघ अधूरा था। इस पर किसी ने व्यंग्य किया, "आपके संघ में श्रावक-श्राविकाएँ और साधु तो हैं, साध्वियाँ नहीं हैं। उनके अभाव में आपके संघ का यह मोदक अपूर्ण ही है।"

आचार्य भिक्षु हाजिरजवाब थे। बोले, "हमारा यह मोदक अपूर्ण भले हो, पर है यह चौगुनी चीनी का। इसलिए जितना है, उतना पूर्ण रूप से स्वादिष्ट है।"

यहाँ दो बातें फलित होती हैं। पहली तो यह कि दूसरे संघों की परिपूर्णता देखकर आचार्य भिक्षु के मन में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न नहीं हुआ और दूसरी यह कि अपने संघ की एक विशेषता भी उन्होंने जता दी। चौगुनी चीनीवाला मोदक कहकर उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि पूर्णता बाहरी नहीं बल्कि आंतरिक होती है और आंतरिक पूर्णता

चारित्र्य से आती है। वह चारित्र्य ही चीनी है अर्थात् तेरापंथ बाह्य रूप से भले ही परिपूर्ण न हो, किंतु चारित्र्य के मामले में वह किसी भी दूसरे संघ से चार-गुणा पूर्ण एवं शक्तिशाली है।

एक लंबे समय तक—लगभग छत्तीस वर्षों तक—तेरापंथ में साधुओं की संख्या आठ और बारह के बीच रही, जिसका एक कारण यह था कि आचार्य भिक्षु की दृष्टि दीक्षार्थियों के चारित्र्य पर रही। वे शासन एवं अनुशासन के मामले में अत्यंत कठोर थे और अपनी इस कसौटी पर खरा उतरनेवाले को ही दीक्षित करते थे।

न सा काम्या बुद्धिर्भवति खलु या बन्धनिरता,
प्रशस्यां तां मन्ये भवति च यतश्चिद् विकसिता।
स्वचैतन्ये निष्ठा प्रशमसुखवृष्टेरनुभवः,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे॥

शब्दार्थ :

न–नहीं। सा–वह। काम्या–मान्य। बुद्धिर्भवति– बुद्धि होती है। खलु– निश्चय ही। बन्धनिरता– बन्धनों में बँधी हुई। प्रशस्यां–प्रशस्त। तां– उसको। मन्ये– मानता हूँ। भवति–होती है। च–और। यतश्चिद्– जहाँ से चेतना। विकसिता– विकसित। स्वचैतन्ये– अपनी चेतना में। निष्ठा– आस्था। प्रशमसुखवृष्टेरनुभवः–समता सुख की वर्षा का अनुभव। प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे– भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

भावानुवाद :

आचार्य भिक्षु उवाच :– "वह बुद्धि काम्य नहीं होती, जो निश्चित बंधन करने वाली हो। मैं उस बुद्धि को प्रशस्त मानता हूँ, जहाँ अपनी चेतना विकसित हो!" इस प्रकार (उनके मन में) अपने चैतन्य के प्रति निष्ठा एवं समता–सुख रूपी वर्षा का अनुभव था। ऐसे प्रसन्नात्मा भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

अर्थ-संदर्भ :

न सा काम्या बुद्धिर्भवति....यतश्चिद् विकसिता

श्रद्धा-विवेक से विहीन बुद्धि ध्वंस और विनाश का कारण बनती है, किंतु विवेक एवं श्रद्धा से समन्वित होकर वह चेतनता व अखंड आनंद के साम्राज्य में ले जाती है।

आचार्य भिक्षु का उस समय सिरियारी में चातुर्मास था। जोधपुर-नरेश श्रीनाथजी के दर्शन करने नाथद्वारा जा रहे थे। मार्ग में सिरियारी पड़ता था, जहाँ उन्हें वर्षा के कारण एक दिन के लिए रुकना पड़ा। उनके मंत्री तथा सामंतों को पता चला कि महान तत्त्वज्ञानी आचार्य भिक्षु सिरियारी में विराजमान हैं। इसे अपने लिए एक शुभ संयोग मानकर वे आचार्य के दर्शन करने आए और अनायास प्राप्त इस अवसर का पूरा लाभ उठाने के लिए अपनी अनेक तात्त्विक तथा आध्यात्मिक जिज्ञासाएँ उनके सामने रखीं। आचार्य भिक्षु ने सभी जिज्ञासाओं का अत्यंत सरल व सरस भाषा में समाधान प्रस्तुत किया। सुनकर मंत्रीजी प्रसन्न हो गए और बोले, ''इन प्रश्नों को अनेक विद्वानों से पूछने का अवसर मिला है, किंतु आपने जैसे युक्तिसंगत उत्तर दिए हैं, वैसे किसी अन्य ने नहीं दिए। आपकी बुद्धि तो ऐसी है कि आप अगर किसी राजा के दीवान होते, तो उसके राज्य को बढ़ाकर साम्राज्य बना देते।'' मंत्री के इस कथन पर आचार्य भिक्षु ने एक दोहा सुनाया :

बुद्धि तिणांरी जाणिए, जे सेवै जिन-धर्म,
वा बुद्धि किण काम री, जो पड़िया बाँधै कर्म।

अर्थात् वही बुद्धि सराहने योग्य है, जो वीतराग धर्म के आचरण में लगे, और



मुक्ति का मार्ग ढूँढे। वह बुद्धि व्यर्थ है, जिससे बंधन बढ़े।

विवेक एवं श्रद्धा से समन्वित बुद्धि के द्वारा ही सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है और सम्यक् ज्ञान प्राप्त होने पर प्राणी मोहमुक्त हो जाता है, बंधनमुक्त हो जाता है। *सुदर्शनचरित* में कहा गया है :

सुख–दुख तो संसार में, सब काहू को होय।
ग्यानी भुगते ग्यान कर, मूरख भुगते रोय॥

आचार्य भिक्षु बुद्धिवादी थे, किंतु उनका बुद्धिवाद विवेक एवं श्रद्धा से समन्वित होने के साथ–साथ अनुभूति की आँच में तपा और चेतना के उस धरातल पर पहुँचा हुआ था, जहाँ तत्त्वज्ञान हस्तामलकवत् हो जाता है। फलतः वे अत्यंत गूढ़ विषयों को भी व्यावहारिक द्रष्टांतों के माध्यम से सरस व सीधी–सरल भाषा में समझा दिया करते थे।

एक बार आचार्य भिक्षु ने जिज्ञासु श्रावकों को शालिभद्र का आख्यान सुनाया, तो कुछ लोगों ने कहा, ''शालिभद्र का आख्यान तो पहले भी अनेक साधुओं से सुना है, किंतु इस बार जैसा रस मिला, वैसा पहले कभी नहीं मिला था।''

आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया, ''एक ही आख्यान वक्ताओं की अलग-अलग शैलियों के कारण स्वाभाविक रूप से अलग हो जाता है, इसमें इतने आश्चर्य की क्या बात है!''

आश्चर्य की बात सचमुच नहीं थी, क्योंकि सब नहीं तो अधिकांश लोग जानते थे कि आचार्य भिक्षु के हर व्याख्यान में उनकी श्रद्धाबुद्धि तथा भावानुभूति के योग से तथ्य प्रभावात्मक हो जाते हैं।

एक बार किसी श्रावक ने पूछा, ''स्वामीजी, समाज में अनेक समझदार लोग हैं, लेकिन तत्त्व को समझनेवाले बहुत कम हैं। ऐसा क्यों ?''

आचार्य भिक्षु ने अपनी जानी-पहचानी द्रष्टांत-शैली में जवाब दिया, ''मकराना की खान में मूर्ति बनाने योग्य सफेद पत्थर तो बहुत हैं, पर मूर्ति बनानेवाले कुशल शिल्पी थोड़े हैं।'' अर्थात् ऐसे ज्ञानी साधुओं की कमी है, जो उन समझदार लोगों को तत्त्वज्ञानी बना सकें।

जीव को नरक में कौन ले जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में लंबी-चौड़ी बात न करके उन्होंने कहा, ''पत्थर को नीचे कोई नहीं ले जाता, वह अपने भार से स्वयं नीचे जाता है।''

जीव को स्वर्ग में कौन ले जाता है? तो उन्होंने फिर वैसा ही उत्तर दिया और कहा, ''काठ के टुकड़े को जल में कोई नहीं तैराता, वह अपनी लघुता से स्वयं तैरता है।'' इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा, ''तांबे के पैसे को पानी में डालो, वह डूब जाएगा। उसी को तपा-पीटकर कटोरी बना लो, वह पानी पर तैरने लगेगी।''

उपर्युक्त दोनों द्रष्टांतों के माध्यम से आचार्य भिक्षु ने साफ कर दिया कि जीव को न तो कोई नरक में ले जाता है और न स्वर्ग में, वह अपने कर्मों से ही नरक या स्वर्ग में जाता है। साथ ही यह भी बता दिया कि स्वर्ग में जाने के लिए स्वयं को साधना की आँच में तपा-गलाकर इच्छित रूप देना पड़ता है।

आचार्य भिक्षु ने ज्ञान और क्रिया के समन्वय पर बल दिया है, इसके बिना अपने आदर्श लक्ष्य तक नहीं पहुँचा जा सकता।

जहाँ ज्ञान और क्रिया का समन्वय नहीं होता, वहाँ कोरे शब्दों को पकड़कर बैठने की प्रवृत्ति बलवती हो जाती है और इस प्रवृत्ति के सहारे कभी तत्त्व तक नहीं पहुँचा जा सकता। इस बात को आचार्य भिक्षु ने बहुत सुंदर द्रष्टांत के माध्यम से समझाया है। वे कहते हैं :

एक सास ने बहू से कहा कि जाओ, पूजा के लिए पीपल ले आओ। बहू गई और पीपल के तने को एक मोटे रस्से से बाँधकर खींचने लगी। लेकिन क्या पीपल के विशाल पेड़ को इस तरह खींचा जा सकता था! बहुत जोर लगाने से उसका साँस फूल गया और वह पसीना-पसीना हो गई। फिर भी पीपल नहीं हिला तो बारंबार अनुनय करने लगी — 'पीपल, चलो! तुम्हें मेरी सास बुला रही है.. पीपल, चलो! तुम्हें मेरी सास बुला रही है।' साथ ही रस्से को खींचती भी रही। एक राहगीर ने देखा, तो आश्चर्यपूर्वक पूछा- 'बहन, यह क्या कर रही हो?' बहू बोली, 'मेरी सास पीपल को बुला रही है। लेकिन यह चलता ही नहीं। क्या करूँ?' राहगीर ने कहा, 'बहन, शब्दों पर मत जाओ। पीपल की जड़ें बहुत गहरी हैं। उठाकर ले जाना तो दूर की बात है, तुम इसे हिला भी नहीं सकतीं। ऐसा करो कि इसकी एक डाली तोड़कर ले जाओ, तुम्हारा काम हो



जाएगा।' बहू ने वैसा ही किया। सास का काम हो गया और वह खुश हो गई।

आचार्य भिक्षु श्रावकों की जिज्ञासाओं का समाधान ऐसे ही द्रष्टांतों के माध्यम से किया करते थे। लेकिन हर बात के लिए द्रष्टांत और वह भी सीधे-सरल द्रष्टांत जुटा लेना साधारण आदमी का काम नहीं है। आचार्य भिक्षु असाधारण थे और वे असाधारण इसलिए थे कि उनकी बुद्धि विवेक एवं श्रद्धा से समन्वित होकर चेतना के उस धरातल पर पहुँच गई थी, जहाँ निरंतर आनंद का साम्राज्य रहता है।

॥6॥

ज्वरो यस्याध्वानं सततमविगानं विहितवान्,
निराशा संन्यस्ता सरिति रवितापेन सुतराम्।
प्रकाशः सम्प्राप्तो गहनतिमिरे चैत्यनिलये,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे॥

शब्दार्थ :

ज्वरो- बुखार ने। यस्याध्वानं- जिसके मार्ग को। सततमविगानं-सदा के लिए प्रशस्त। विहितवान्- कर दिया। निराशा-निराशा। संन्यस्ता- तिरोहित हो गई। सरिति-सरिता में। रवितापेन- सूर्य के ताप से। सुतराम्-सम्यक् रूप से / यथार्थ रूप से। प्रकाशः- उजाला। सम्प्राप्तो- प्राप्त किया। गहनतिमिरे-घने अंधकार में। चैत्यनिलये- मंदिर में। प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे-भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

भावानुवाद :

ज्वर ने जिनके मार्ग को सदा के लिए प्रशस्त कर दिया, सूर्य के ताप (आतापना) से जिनकी निराशा सरिता में तिरोहित हो गई, गहन अंधकार वाले चैत्य (मंदिर) में जिन्हें प्रकाश प्राप्त हुआ, ऐसे प्रसन्नात्मा भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

अर्थ-संदर्भ :

ज्वरो यस्याध्वानं सततमविगानं विहितवान्

राजनगर के श्रावक स्थानकवासी साधु-समाज के शिथिलाचार से दुखी भी थे और नाराज भी। उनकी शिकायत थी कि साधु लोग संपन्न श्रावकों को प्रेरित करके अपने लिए स्थानक बनवाते हैं जबकि शास्त्रों में यह प्रवृत्ति निषिद्ध है। वे सुविधाभोगी हो गए हैं और वस्त्र-पात्र संबंधी मर्यादाओं का भी खुले-आम उल्लंघन करते हैं। उनमें अपनी-अपनी शिष्य मंडलियाँ बनाने की होड़ लगी हुई है। हर मुनि चाहता है कि उसके अधिक-से-अधिक शिष्य हों। इस होड़ में वे न केवल अयोग्य लोगों को दीक्षित कर रहे हैं, बल्कि दूसरे साधुओं के शिष्यों को भी बहला-फुसलाकर अपनी तरफ खींचने की कोशिश कर रहे हैं और ऐसा करते समय एक-दूसरे की निंदा करने से भी नहीं चूकते। सबसे बड़ी बात यह कि उनमें सहनशीलता का नितांत अभाव हो गया है। मत-भिन्नता उनसे बर्दाश्त नहीं होती। ऐसे हर अवसर पर वे अनावश्यक रूप से उग्र हो जाते हैं और अपने दोषों को ढकने के लिए अमर्यादित शब्दों का प्रयोग व अनुचित व्यवहार करते हैं।

श्रावकों ने समय-समय पर कई साधुओं के सामने विनीत भाव से ये बातें रखीं और जानना चाहा कि शास्त्र इन विषयों पर क्या कहते हैं। लेकिन साधुओं की ओर से उन्हें अभद्र शब्दों में लीपापोती के सिवाय और कुछ नहीं मिला। उनके असत्य कथन और अपशब्दों से बात एक दिन इतनी बढ़ गई कि राजनगर के सारे श्रावकों ने मिलकर श्रमण-संघ का बहिष्कार कर दिया। जब यह समाचार आचार्य रुघनाथजी को मिला, तो वे बहुत चिंतित हुए, क्योंकि राजनगर में

श्रावकों की बड़ी संख्या थी और उनके द्वारा संघ का बहिष्कार संघ की प्रतिष्ठा के लिए बहुत घातक था। फलतः उन्होंने अपने सबसे प्रिय तथा सर्वाधिक योग्य शिष्य मुनि भीखणजी को आदेश दिया कि राजनगर जाकर श्रावकों को समझाएँ-बुझाएँ, उनके गुस्से को ठंडा करें।

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर मुनि भीखणजी राजनगर पहुँचे और वहाँ के सभी प्रमुख श्रावकों का बातचीत के लिए आह्वान किया। श्रावक यद्यपि श्रमण-संघ के बहिष्कार की घोषणा कर चुके थे, मगर व्यक्तिगत रूप से मुनि भीखणजी की धर्मनिष्ठा तथा सत्यप्रियता से वे इतने अधिक प्रभावित थे कि उनके आमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर सके।



मुनि भीखणजी ने बड़े धैर्य के साथ श्रावकों की सारी बातें विस्तार से सुनीं और अनुभव किया कि ये जो भी कह रहे हैं, सब सही है। किंतु गुरु की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए उन्होंने अपने बुद्धि-बल से ऊँच-नीच समझाते हुए, श्रावकों को बहिष्कार समाप्त करने पर सहमत कर लिया।

श्रावकों ने मुनि भीखणजी का वंदन और चरण-स्पर्श किया, पर इस पूरी क्रिया में पहले जैसी श्रद्धा तथा समर्पण की भावना दिखाई नहीं दी। श्रावकों के माथे की रेखाएँ जैसे कह रही थीं कि उनकी शंकाएँ पूरी तरह मिटी नहीं हैं, उन्होंने परिस्थिति से मात्र समझौता किया है। भीखणजी ने उनके प्रच्छन्न मनोभावों को समझते हुए कहा कि चातुर्मास यहाँ है तो हमारे सामने अभी चार महीने का लंबा समय है। इस दौरान बराबर चिंतन-मनन तथा विचार-विनिमय होता रहेगा, आप लोगों की शंकाओं का भी समाधान होगा।

श्रावक तो इस बात से काफी कुछ संतुष्ट होकर चले गए, किंतु भीखणजी का मन अशांत हो गया। वे स्वयं कुछ समय से यह अनुभव कर रहे थे कि स्थानकों में साधुओं का आचार-व्यवहार शास्त्रों के अनुकूल नहीं है, उसमें कहीं-न-कहीं कुछ कमी अवश्य है। लेकिन उस समय तक आगमों का अपना अध्ययन पुष्ट न होने के कारण वे स्पष्ट रूप से नहीं समझ पा रहे थे कि वह कमी क्या है। कुछ गुरु के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा भी इस दिशा में चिंतन पर अंकुश लगा रही थी। लेकिन श्रावकों ने जिस दृढ़ता से अपना पक्ष रखा था, उसने उन्हें इस विषय पर सोचने को विवश कर दिया।

जितना ही भीखणजी विचार करते, उतना ही श्रावकों का पक्ष उन्हें मजबूत दिखाई देता और वे यह सोचकर ग्लानि से भर उठते कि श्रावकों के साथ उन्होंने न्याय नहीं किया। उनकी आत्मा उन्हें गुरु की झूठी प्रतिष्ठा के व्यामोह में पड़ने के लिए धिक्कारने लगी। वे भयानक

रूप से उद्विग्न हो उठे और उस उद्विग्नता की परिणति हुई तीव्र ज्वर में। उनका शरीर अंगारे की तरह जलने और थर-थर काँपने लगा। तभी जैसे अपनी अंतरात्मा की आवाज उन्होंने सुनी, "यह ज्वर जिन-वाणी के सत्य को छुपाकर एक असत्य को प्रतिपादित करने का परिणाम है। सत्य कहने का साहस तू क्यों नहीं कर सका? क्या इसी के लिए तूने संसार त्यागकर दीक्षा ली थी? ऐसा करके तूने साधु के चोले को अपमानित किया है। तेरा लोक तो बिगड़ा ही, परलोक भी बिगड़ेगा। और तब, जिन गुरु के मत-समर्थन के लिए तूने यह घोर दुष्कर्म किया है, वे भी तेरी कोई सहायता नहीं कर सकेंगे।"

भीखणजी जैसे सोते से जग गए हों। उन्होंने उसी समय प्रतिज्ञा की, "यदि मैं इस अस्वस्थता से मुक्त हुआ तो, निष्पक्ष भाव से शास्त्रों का अनुशीलन करूँगा, जिन-वाणी के अनुसार अपनी चर्या बनाऊँगा, सत्य-मार्ग को अपनाऊँगा और साधुओं के लिए निर्दिष्ट मार्ग के अनुरूप आचरण करने में किसी की भी परवाह नहीं करूँगा।"

यह प्रतिज्ञा करके भीखणजी ने एक अलौकिक शांति का अनुभव किया, उनके मन का उद्वेग जाता रहा और ज्वर का प्रकोप भी धीरे-धीरे समाप्त हो गया। प्रभात होने पर दर्शनार्थ आए श्रावकों से उन्होंने कहा, "रात्रि में मैंने चिंतन किया है और मुझे लगता है कि आप लोगों की शंकाओं पर आगमों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने की आवश्यकता है। मैं शास्त्रों का अनुशीलन करके आप लोगों के सामने सत्य को उद्घाटित करूँगा।"

भीखणजी ने अपना वचन पूरा किया। शास्त्रों का दो-दो बार निष्ठापूर्वक अध्ययन करके चिंतन-मनन-मंथन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि साधुओं के आचार-विचार में सचमुच बहुत शिथिलता आ गई है। अतः इसे दूर करने और शुद्ध आचार-विचार

की पुनर्स्थापना के लिए नियमों के प्रति दृढ़ता व संयम अत्यंत आवश्यक है। तत्पश्चात् यह बात उन्होंने अपने गुरु आचार्य रुघनाथजी के सामने रखी, किंतु वे इससे सहमत नहीं हुए और अंततः यही बात आचार्य रुघनाथजी के संघ से भीखणजी के अलग होने का कारण बनी।

उस समय किसी ने सोचा भी नहीं होगा कि भीखणजी का वह ज्वर तेरापंथ के उदय का निमित्त बनेगा और जनमानस में सत्य की लौ प्रज्वलित करेगा। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उस रात्रि की कोख से एक नए भीखणजी का जन्म हुआ, जिसे आगे चलकर संसार ने आचार्य भिक्षु के नाम से जाना।

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की स्थापना की, तो आचार्य रुघनाथजी को गहरी ठेस लगी। उन्होंने आचार्य भिक्षु के मार्ग में अकल्पनीय व्यवधान खड़े किए। इस बीच आचार्य भिक्षु ने जिन बारह साधुओं को साथ लेकर तेरापंथ की नींव डाली थी, उनमें से पाँच साधु भी उनका साथ छोड़कर चले गए।

आचार्य रुघनाथजी की तरफ से उनके विरुद्ध भाँति-भाँति के षड्यंत्र और दुष्प्रचार किए ही जा रहे थे। आखिर एक स्थिति में आकर भीखणजी ने अनुभव किया कि धर्म-प्रचार का कार्य असंभव



हो गया है और उन्हें अपने-आपको सर्वतोभावेन आत्मकल्याण पर ही केंद्रित करने का निर्णय लेना पड़ा। हालाँकि यह निर्णय उनके लिए अत्यंत कष्टकर था, क्योंकि वे जानते और मानते थे कि साधु-जीवन की कृतार्थता आत्मकल्याण व जनकल्याण का सम्मिलित साधना में ही है। किंतु वे परिस्थितियों के सामने विवश हो गए और अपने साथ बचे सात साधुओं को लेकर आत्मकल्याण के मार्ग पर निकल पड़े। तपस्विनी नदी के तट पर घोर एकांतर तप में लीन होकर उन्होंने राजस्थान की भयानक गर्मी में जलती हुई बालू पर सूर्य की आतापना लेने का क्रम शुरू किया। उपर्युक्त श्लोक में आचार्य भिक्षु की इसी लोमहर्षक तपस्या की ओर संकेत है।



तेरापंथ की स्थापना के बाद आचार्य भिक्षु ने अपने प्रथम चातुर्मास के लिए केलवा [illegible] को चुना। वे विहार करते हुए वहाँ पहुँचे, तो विरोधियों ने पहले ही पूरी बस्ती में ऐसा दुष्प्रचार कर दिया था कि स्थानीय जनता के मन में उनके प्रति भय और घृणा पैदा हो गई और कोई उन्हें चातुर्मास व्यतीत करने के लिए स्थान देने को तैयार नहीं हुआ। ऊपर से षड्यंत्र के तहत उन्हें एक जैन मंदिर की अंधेरी कोठरी दिखाई गई और कहा गया कि यही एक स्थान है, आप चाहें तो यहाँ रह सकते हैं! वह कोठरी चारों तरफ से बंद थी, सिर्फ एक छोटा-सा दरवाजा अंदर जाने के लिए था। न हवा, न रोशनी। उस कोठरी के बारे में यह प्रवाद प्रचलित था कि वहाँ कोई प्रेतात्मा निवास करती है, जो उसमें रात बितानेवाले मनुष्य को मार डालती है। ऐसी कुछ घटनाएँ हो भी चुकी थीं कि कोई मनुष्य रात बिताने के लिए उस कोठरी में रहा और सुबह मरा पाया गया। विरोधियों ने आचार्य भिक्षु को वहाँ ठहरने का सुझाव देते समय यही सोचा था कि वे सुबह होने तक अपने साथियों समेत मृत्यु को प्राप्त हो जाएँगे—साँप भी मर जाएगा और लाठी भी नहीं टूटेगी!

आचार्य भिक्षु ने सहर्ष उस कोठरी में रहना स्वीकार कर लिया। दिन का समय तो अध्ययन-मनन में बीत गया, किंतु रात्रि के प्रथम प्रहर में उनके एक शिष्य मुनि भारमलजी परठने (मल-मूत्र विसर्जित करने) के लिए बाहर गए, तो वापस लौटते समय दरवाजे के पास पहुँचते ही एक साँप उनके पैरों में लिपट गया और वे चलने में असमर्थ हो वहीं खड़े रह गए।

आचार्य भिक्षु ने उन्हें वहाँ खड़े देखा तो पुकारकर कहा, "अंदर आओ भारमल, वहाँ क्यों खड़े हो?"



भारमलजी ने कहा, "गुरुदेव, अंदर नहीं आ सकता, मेरे पैरों को सर्प ने जकड़ लिया है।"

मुनि भारमल की यह बात सुनते ही आचार्य भिक्षु तुरंत द्वार तक आए और 'नमस्कार मंत्र' का उच्चारण कर कहने लगे, "नागदेव, आप इस बाल-मुनि को क्यों डरा रहे हैं ? चातुर्मास व्यतीत करने के लिए बस्ती में कोई जगह नहीं मिली, तो हम यहाँ ठहर गए। मगर ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थान आपका है और आप नहीं चाहते कि हम यहाँ रहें। अगर सचमुच ऐसा है, तो हम यहाँ से चले जाएँगे।"

आचार्य भिक्षु के इस कथन का सर्प के ऊपर न जाने कैसा जादू हुआ कि वह भारमलजी के पाँवों को मुक्त करके सरसराता हुआ बाहर की तरफ चला गया और भीखणजी भारमलजी को लेकर कोठरी में आ गए।

कुछ समय के पश्चात् आचार्य भिक्षु के सब साथी तो सो गए, किंतु वे जागते रहे। उन्हें लगा कि इस स्थान को लेकर जो प्रवाद प्रचलित हैं, उनमें कुछ-न-कुछ सच्चाई अवश्य है, इसलिए रात्रि में सावधान रहना जरूरी है। वे धर्म-जागरण में लगे रहे।

अभी आधी रात ही बीती होगी कि भीखणजी को एक श्वेत वस्त्रधारी पुरुष आता दिखाई दिया। उसके निकट आने पर निर्विकार भाव से उन्होंने कहा, "इस अर्धरात्रि में यहां किस कारण से आना हुआ, देव ?"

श्वेत वस्त्रधारी पुरुष ने किंचित आश्चर्य के साथ पूछा, "मुझे देव कहकर संबोधित कर रहे हैं, आपने कैसे जाना कि मैं मनुष्य नहीं हूँ ?"

भीखणजी बोले, "मनुष्य तो मेरे पास दिन में भी नहीं आता, फिर आधी रात में भला क्यों आएगा! आप निश्चय ही कोई देव हैं।"

आचार्य भिक्षु की निर्भयता से खुश होकर उस दिव्य पुरुष ने कहा, "आपका अनुमान सही है, महाराज! मै यक्ष हूँ। पहले यह मेरा निवास-स्थान था और मैं नहीं चाहता कि अनिच्छित लोग यहाँ आकर ठहरें। इसलिए वैसा कोई भी व्यक्ति जब यहाँ ठहरने के इरादे से आया, उसे मैंने किसी-न-किसी उपाय से डराकर भगा दिया। अगर कोई अपनी जिद में नहीं भागा, तो उसे अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े।"

"लेकिन हम तो यहाँ चातुर्मास बिताने के उद्देश्य से आए हैं।



गांव में ठहरने के लिए हमें और कोई जगह नहीं मिली। यह जगह खाली दिखाई दी, तो इसी में सहज भाव से आ गए। अब आप ही बताइए हमारे लिए क्या करणीय है, देव?"

उनकी सहज और निश्छल बातें सुनकर यक्ष ने कहा, "आप तो महान आत्मा हैं, आपको डरने की जरूरत नहीं है। निश्चिंत होकर यहाँ रहें और अपना चातुर्मास सानंद पूर्ण करें। बस, आपको दो बातों के लिए सावधान करने आया था —एक तो यह कि प्रातःकाल होने पर बाहर सर्प के द्वारा खींची गई एक रेखा दिखाई देगी। उसके इस ओर कोई साधु मल-मूत्र विसर्जित न करे और दूसरी यह कि दरवाजे के दोनों ओर जो दो चबूतरियाँ हैं उन पर आपके अलावा अन्य कोई न बैठे।"

आचार्य भिक्षु ने सहर्ष दोनों शर्तें स्वीकार कीं और यक्ष सहसा अंतर्धान हो गया। आचार्य भिक्षु फिर से धर्माराधना में लीन हो गए।

जब सुबह हुई तो उन्होंने शांत मन से सब साधुओं को अर्ध-रात्रि में घटित पूरा प्रसंग सुनाया और यक्ष के द्वारा कही गई दोनों बातों के बारे में सावधान कर दिया।

जिन लोगों ने भीखणजी को षड्यंत्र के तहत वहाँ ठहराया था, वे अगले दिन यह सोचकर भागे-भागे आए कि अब तक भीखणजी और उनके साथियों की जीवन-लीला समाप्त हो चुकी होगी, किंतु जब उन्होंने देखा कि सभी साधु सकुशल हैं और सहज-भाव से अपनी दिनचर्या में संलग्न हैं तथा उनपर भय का नामोनिशान तक नहीं है, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

उत्सुकतावश गाँव के अन्य बहुत से लोग भी उनके साथ आए थे। उन सबके लिए यह एक अद्भुत चमत्कार था। सब सोचने लगे कि वास्तव में ये सच्चे संत हैं, इसीलिए इनको कुछ नहीं हुआ। वे स्वामीजी से बहुत प्रभावित हुए। विरोधियों का तो चेहरे का रंग ही

उड़ गया, उनके लिए यहाँ वही कहावत चरितार्थ हुई कि चौबेजी छब्बेजी बनने चले थे पर दूबेजी बनकर लौटे। फिर तो भीखणजी ने चातुर्मास उस कोठरी में ही शांतिपूर्वक व्यतीत किया।

जीवन में आए संघर्षों और उतार-चढाव के मध्य भी उनकी दृष्टि सदैव सहज, गंभीर और विनोदपरक रही। इसीलिए कहीं भी उनकी किसी भी प्रकार की चर्चा में कटुता व उत्तेजना का समावेश नहीं हुआ।

अगम्यं यन्नाम प्रबलतपसा सञ्चितयशो,
न शेषाः संक्लेशा विलयमुपयान्ति स्मरणतः।
नयन ॐ ऐं ॐ ॐ अमलमनसार्हं सवलयं,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे ॥

शब्दार्थ :

अगम्यं – जिसकी महिमा को न जाना जा सके। यन्नाम– जो नाम। प्रबलतपसा– कठिन तपस्या से । सञ्चितयशो–यश संचित किया गया । न– न। शेषाः– बचे, शेष रहे । संक्लेशा– दुःख। विलयमुपयान्ति– विलीन हो जाते हैं। स्मरणतः–स्मरण करने से। नयन– ले जाता हुआ। ॐ ऐं ॐ ॐ – बीजाक्षर। अमलमनसार्हं– निर्मल मन से अर्हम् को। सवलयं– वलय बनाकर। प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे– भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

भावानुवाद :

आचार्य भिक्षु का नाम अगम्य है, घोर तप से उन्होंने यश का संचय किया है। निर्मल मन से जो अर्हम् का वलय बनाकर ॐ ऐं ॐ ॐ का स्मरण करता है उसके समस्त क्लेश विलीन हो जाते हैं। ऐसे प्रसन्नात्मा भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

अर्थ संदर्भः

प्रबल तप के फलस्वरूप आचार्य भिक्षु इतने महिमामंडित हो गए कि उनका नाम स्वयं एक मंत्र बन गया, जिसका जप करने से मनुष्य के कष्टों का निवारण हो जाता है। इस संबंध में अनेक व्यक्तियों की स्वानुभूत घटनाओं का विवरण मिलता है।

तेरापंथ के चौथे आचार्य जीतमल (जयाचार्य) के समय की बात है। वे अपने सहयोगी साधुओं के साथ बीदासर प्रवास कर रहे थे। उस दौरान एक दिन अचानक आकाश से अंगारे बरसने लगे। लोग अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर भागने लगे। पूरे शहर में अफरा-तफरी का माहौल हो गया। लोग त्राहि-त्राहि करने लगे। इस विपत्ति से छुटकारा कैसे मिले, किसी की समझ में नहीं आ रहा था। ऐसे में जयाचार्य के सहयोगी साधु भी उस अग्नि-वर्षा के कारण बेहोश हो गए, तब जयाचार्य शांत मन से इस उपद्रव से छुटकारा पाने के लिए 'ॐ भिक्षु' के जप में लीन हो गए। इधर उन्होंने जप शुरू किया और उधर अग्नि-वर्षा का प्रकोप कम होना शुरू हो गया। जप चलता रहा। अंगारे बरसने बंद हो गए। बीदासर के लोगों ने राहत की सांस ली।

राजस्थान के बाड़मेर जिले का एक गाँव है जसोल। वहाँ मानजी नामक एक श्रद्धालु श्रावक रहते थे। धर्म के कामों में उनकी बहुत रुचि थी। सुबह-शाम ध्यान-उपासना में बिताते। एक बार उन्हें काले नाग ने डस लिया। देखते-ही-देखते पूरे शरीर में जहर फैल गया। सारे अंग नीले पड़ गए। झाड़-फूँक और तंत्र-मंत्र का कोई असर नहीं हो रहा था। वैद्यजी की औषधि से भी विष का प्रभाव कम नहीं



हुआ। मानजी का अंग–अंग शिथिल होता जा रहा था। सब ओर से निराश होकर उन्होंने आँखें बंद कर लीं और तन्मय होकर 'ॐ भिक्षु' का जप करने लगे। लोगों ने आश्चर्य के साथ देखा कि उनके अंगों का नीलापन दूर होना शुरू हो गया है और कुछ समय में ही वे एकदम स्वस्थ हो गए।

उदयपुर स्थित रावलियाँ गाँव की रूपाँजी का झुकाव किशोरावस्था से ही धर्म की ओर अधिक था। समय के साथ यह भावना प्रबल से प्रबलतर होती गई। यद्यपि वे एक पुत्र की माँ बन चुकी थीं, किंतु सांसारिक सुखभोग में उनका मन नहीं रमता था। वैराग्य बढ़ता गया और एक स्थिति ऐसी आई जब उन्होंने दीक्षा लेने का संकल्प कर लिया। किंतु परिवारवालों ने इसकी अनुमति नहीं दी। अनुमति न देने का एक कारण यह था कि वे तेरापंथी नहीं थे, जबकि रूपाँजी आचार्य भिक्षु के पास दीक्षित होना चाहती थीं। सब लोगों ने उनका विरोध किया, उन्हें समझाने की कोशिश की, डराया-धमकाया भी, लेकिन रूपाँजी के निश्चय को नहीं बदल सके। आखिरकार उन्होंने रूपाँजी का पैर खोड़े में डालकर उन्हें रावले में बंद कर दिया। निरुपाय रूपाँजी भिक्षु स्वामी का स्मरण करते हुए तपस्या में लीन हो गईं और 'ॐ भिक्षु' का जप करने लगीं, जिसके प्रभाव से 21वें दिन खोड़ा अपने आप ही टूट गया। यह दृश्य देखकर परिवार के सदस्य चकित रह गए। उन्होंने समझ लिया कि रूपाँजी की भावना सच्ची है और उन्हें दीक्षा की सहर्ष अनुमति दे दी।



मतिः सिद्धा शुद्धा भवतु प्रतिबुद्धा प्रतिपलं,
मनो हित्वा भ्रान्तिं व्रजतु सुखदां शांतिममलाम्।
सदा ह्लीं ह्लीं ह्लीं ह्लीं स्फुरतु नितरां भावनिचये,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे ॥

शब्दार्थ :

मतिः- बुद्धि। सिद्धा- सिद्ध। शुद्धा- पवित्र। भवतु-हो। प्रतिबुद्धा-जाग्रत। प्रतिपलं- हर पल। मनो-मन। हित्वा-त्याग कर। भ्रान्ति-भ्रम को। व्रजतु-प्राप्त हो। सुखदां-सुख देने वाली। शांतिममलाम्- निर्मल शांति को। सदा-सदैव। ह्लीं ह्लीं ह्लीं ह्लीं-शक्ति मंत्र। स्फुरतु- स्फुरित हो। नितरां-निरन्तर। भावनिचये-भावनाओं के समूह में (भावों में)। प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे- भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

भावानुवाद :

बुद्धि प्रतिक्षण सिद्ध, शुद्ध और जाग्रत हो। मन भ्रान्ति का त्याग कर सुखद निर्मल शान्ति को प्राप्त हो। भावों में निरंतर ह्लीं ह्लीं ह्लीं ह्लीं मंत्रशक्ति स्फुरित हो। ऐसे प्रसन्नात्मा भिक्षु मेरे नयनों में अवतार लें।

शक्तिपुञ्ज, निर्मलमना भिक्षु थे तपःपूत, स्वयंभूत। अतः उनका नाम है - मंत्रसंभूत। जिसमें प्रस्फुटते हैं - शक्ति-स्फुलिंग, प्रवाहित है अमल शांति। जो व्यक्ति निश्छल मन से, तन्मयता से भिक्षु को स्मरण करता है, वह प्राप्त करता है - अभय को, असीम शक्ति को, आनंद को।

"नमन
नीर-क्षीर
गंभीर!
धीर
महाधीर!!
वीर
महावीर!!!"

ॐ अर्हम्

आचार्य भिक्षु की जीवन-सम्बंधी महत्वपूर्ण बातें

महत्वपूर्ण वर्ष

1. जन्म :	सं. 1782 आषाढ़ सुदी 15
2. द्रव्य दीक्षा :	सं. 1808 मृग शीर्ष वदि 12
3. बोध–प्राप्ति :	सं. 1815 चातुर्मास
4. आचार्य रुघनाथजी से पृथक् :	सं. 1816 चैत्र सुदी 9
5. नई दीक्षा (तेरापंथ की स्थापना) :	सं. 1816 आषाढ़ सुदी 15
6. प्रथम श्रमणी दीक्षा :	सं. 1821
7. प्रथम साधु–दीक्षा :	सं. 1822
8. प्रथम मर्यादा लिखित (मुनि भारमलजी का भावी आचार्य रूप में निर्वाचन) :	सं. 1832 मृगशीर्ष वदि 7
9. गणवृद्धि का प्रारंभ :	सं. 1853 माघ सुदी 13
10. अन्तिम मर्यादा पत्र :	सं. 1859 माघ सुदी 7
11. देवलोक :	सं. 1860 भाद्र सुदी 13

महत्वपूर्ण स्थान

1. जन्म :	कंटालिया (मारवाड़)
2. द्रव्य दीक्षा :	बगडी (मारवाड़)
3. बोध–प्राप्ति :	राजनगर (मेवाड़)
4. आचार्य रुघनाथजी से पृथक् :	बगडी (मारवाड़)
5. नई दीक्षा :	केलवा (मेवाड़)
6. प्रथम मर्यादा लिखित :	विठौडा
7. अन्तिम मर्यादा लिखित :	
8. चरम–कल्याण (स्वर्गवास)	सिरियारी

उपलब्धियां

1. संयमी जीवन : 52 वर्ष से अधिक
2. संथारा : 7 प्रहर
3. ग्रंथ–रचना : 38000 पद
4. दीक्षा-प्रदान : 104 साधु साध्वियां
5. स्वर्गवास के समय साधु–साध्वियां : साधु 21, साध्वियां 27=48

आयुष्य

1. जन्म : 1982 आषाढ़ सुदी 15
2. स्वर्गवास : 1860 भाद्रव सुदी 13
3. कुल आयुष्य : 77 वर्ष 2 महीना 1 दिन
4. आयुष्य–विवरण :
   - गृहवास : 25 वर्ष 4 महीना 14 दिन
   - आचार्य रुघनाथजी के साथ 8 वर्ष 4 महीना 12 दिन
   - पृथक् होने और नई दीक्षा लेने के बीच का समय : 3 महीना 6 दिन
   - तेरापंथ के आचार्य के रूप में : 43 वर्ष 1 महीना 29 दिन

श्रीचन्दजी रामपुरिया की पुस्तक से साभार

प्रज्ञा प्रकाशन

प्रज्ञा प्रकाशन का उद्देश्य बच्चों के लिए
ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करना है, जो–

उन्हें अच्छाई और बुराई को समझने का विवेक दे सकें

उनके मन में स्वस्थ –जीवन–मूल्यों के प्रति अनुराग पैदा कर सकें

उन्हें उनके लक्ष्य से परिचित कराएं

उन्हें उनकी सामर्थ्य का बोध कराकर उसका उपयोग करना सिखाएं

उनके मन में जो सवाल उभरते हैं और जिनका कोई जवाब उन्हें नहीं मिलत
उन सवालों का जवाब दे सकें

उनके जीवन में एक सच्चे गुरु की भूमिका के साथ–साथ एक आत्मीय मित्र व
भूमिका भी निभा सकें

उनके मन में यह भाव पैदा न करें कि उन पर विचार थोपे जा रहे हैं

विषयवस्तु और प्रस्तुति में इतनी आकर्षक हों कि वे उन्हें देखते ही पढ़ने के लि
लालायित हो उठें

पुस्तकों की विषयवस्तु के संबंध में अभिभावक और बच्चे हमें अपने सुझाव भेजें। खास तौर पर बच्चे क्या चाहते हैं, वे खुद हमें लिखें। जिन बच्चों के सुझाव रचनात्मक होंगे, उन्हेंअमल में लाने की भरपूर कोशिश की जाएगी।